भारतीय समाजवाद
आर्थिक संयोजन
और विकेन्द्रीकरण

भारतीय समाजवाद, आर्थिक संयोजन और विकेन्द्रीकरण

'पन्त व्याख्यान-माला' के अन्तर्गत लखनऊ में दिये गये डा० सम्पूर्णानन्द, श्री श्रीमन्नारायण और श्री जयप्रकाश नारायण के भाषणों का संकलन

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

प्रकाशक
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

१९६०
मूल्य २ रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

अनुक्रम

दो शब्द

उत्तर प्रदेश विधान मंडल के सदस्यगण तथा नागरिक, प्रदेश की राजधानी लखनऊ में, विगत कई वर्षों से अपने लोकप्रिय तथा परम श्रद्धास्पद नेता माननीय पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त की वर्षगांठ १० सितम्बर को बड़े प्रेम तथा उल्लास से मनाते आ रहे हैं। गत वर्ष उनकी ७१वीं वर्षगांठ के उपलक्ष में किये गये आयोजन के शुभ अवसर पर हमारे माननीय मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द ने अपने भाषण में माननीय पन्त जी की जीवनी पर प्रकाश डालते हुए यह विचार व्यक्त किये थे कि ऐसे महापुरुषों की वर्षगांठ के अवसर पर हमें महत्वपूर्ण विषयों पर विद्वज्जनों के प्रवचन कराने चाहिए ताकि वे लिपिबद्ध होकर एक स्थायी निधि बन सकें तथा उनके जीवनादर्श से जन-साधारण सदैव लाभ उठा सकें और इस प्रकार हम ऐसे महापुरुषों की स्मृति को अक्षुण्ण बनाने में सफल हो सकें।

इसी भाव से प्रेरित होकर श्रद्धेय पन्त जी की ७२वीं वर्षगांठ इस वर्ष दिनांक १० सितम्बर, १९५९ को केवल सांस्कृतिक समारोह कर गत वर्षों की ही भांति नहीं मनायी गयी, अपितु माननीय डा० सम्पूर्णानन्द द्वारा दिये गये उपर्युक्त सुझाव के अनुसार ७ से लेकर १० सितम्बर १९५९ तक चतुर्दिवसीय समारोह आयोजित हुआ, जिसमें प्रथम तीन दिन "पंडित पन्त व्याख्यानमाला" के नाम से तीन प्रतिष्ठित विद्वानों के भाषणों का आयोजन किया गया।

७ सितम्बर को 'पन्त-व्याख्यान-माला' में प्रथम पुष्प पिरोने का श्रेय डा० सम्पूर्णानन्द जी को है, जिन्होंने 'भारतीय समाजवाद का दार्शनिक आधार' जैसे गूढ़ विषय पर एक विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया। इस समारोह की अध्यक्षता श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर, अध्यक्ष विधान परिषद, ने की।

दूसरे दिन, ८ सितम्बर को उक्त व्याख्यानमाला में नियोजन आयोग के प्रतिभाशाली सदस्य श्री श्रीमन्नारायण ने द्वितीय पुष्प गूंथा। उनका भाषण 'आर्थिक संयो-

जन के मूल सिद्धांत' जैसे गंभीर एवं सामयिक विषय पर हुआ। इस दिन सभा की अध्यक्षता श्री आत्माराम गोविन्द खेर, अध्यक्ष विधान सभा, ने की। अध्यक्ष महोदय ने स्वयं भी इस विषय के अनेक पहलुओं पर अपने व्यक्तिगत विचार प्रकट किये।

९ सितम्बर, १९५९ को 'पंडित पन्त व्याख्यानमाला' में तृतीय सुमन सर्वोदय एवं समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने पिरोया। उनके भाषण का विषय था—'विकेन्द्रीकरण'। पंत-व्याख्यान-माला के तीसरे दिन के समारोह की अध्यक्षता हमारे विद्वान मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने की।

१० सितम्बर को श्रद्धेय पन्त जी के जन्मदिन के शुभ अवसर पर अन्य वर्षों की भांति सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन हुआ। श्री चतुर्भुज शर्मा, अध्यक्ष उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी, के सभापतित्व में बड़े प्रेम और उल्लास के साथ समारोह-पूर्वक उत्सव मनाया गया। पन्त जी की जीवन-झांकी पर अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला और बताया कि किस प्रकार हमें अपने जीवन में उनका अनुसरण करना चाहिए। साथ ही उनके दीर्घजीवी होने की मंगल कामना की गयी।

'पंडित पन्त व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत डा० सम्पूर्णानन्द, श्री श्रीमन्नारायण तथा श्री जयप्रकाश नारायण के विभिन्न विषयों पर जो महत्वपूर्ण प्रवचन हुए उनको यथावत लिपिबद्ध कर पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है जिससे वक्ताओं के विचारों से जनसाधारण लाभान्वित हों और जिन महापुरुष का जन्मदिन मनाया जाता है, उनका सुयश और कीर्ति सदा बनी रहे।

इस सबका श्रेय डा० सम्पूर्णानन्द जी को है जिनकी सत्प्रेरणा तथा सत्प्रयत्न से 'पन्त व्याख्यानमाला' का आयोजन हो सका और समारोह सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सका। उन्हीं के सत्प्रयत्न से पूज्य पन्त जी के जन्म-दिन के समारोह का आयोजन करने के लिए एक स्थायी समिति बन सकी जिसकी अध्यक्षता का भार स्वयं उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार किया है। इस समिति के सदस्य हैं—श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर, अध्यक्ष विधान परिषद; श्री आत्माराम गोविन्द खेर, अध्यक्ष विधान सभा; श्री त्रिलोकी सिंह, नेता विरोधी दल; श्री चतुर्भुज शर्मा, अध्यक्ष

उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी; प्रो० कालीप्रसाद, लखनऊ विश्वविद्यालय; श्री कैलास प्रकाश, सदस्य विधान सभा; श्री गुरुनारायण, सदस्य विधान परिषद (कोषाध्यक्ष) तथा श्री जगमोहन सिंह नेगी, खाद्य-मंत्री (संयोजक)।

आशा है, इस स्थायी समिति के बन जाने से प्रत्येक वर्ष आदरणीय पन्त जी की वर्षगांठ के सुअवसर पर 'पन्त व्याख्यानमाला' का आयोजन हुआ करेगा और श्रोताओं को लाभ पहुंचाने के साथ-साथ उनके प्रकाशन से वर्तमान समस्याओं के समाधान की ओर इंगित करने वाला महत्वपूर्ण साहित्य भी तैयार हो जायगा।

—जगमोहन सिंह नेगी

डा० सम्पूर्णानन्द

भारतीय समाजवाद का दार्शनिक आधार

सभापति जी और मित्रो,

यह मेरे लिए बड़े गौरव की बात है कि हमारे आदरणीय और स्नेहास्पद मित्र और नेता, पंडित गोविन्द बल्लभ पंत के नाम से जिस व्याख्यान-माला का आयोजन हुआ है, उसमें पहला फूल पिरोने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। जिस विषय पर मैं आपके सामने कुछ कहना चाहता हूँ, वह निश्चय ही, बड़े महत्व का है और जहां तक विषय की बात है इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह सर्वथा उचित था कि इस विषय को पहला स्थान मिले। मैं उसका ठीक-ठीक प्रतिपादन कर सकूंगा, इसमें आपको संदेह होगा और मुझको भी संदेह है। दूसरी दिक्कत यह है कि जहां तक दर्शन का सम्बन्ध है बहुत कम लोगों को इसमें रस मिलता है; लोग इसको बड़ा सूखा विषय समझते हैं। लेकिन हमें इतना याद रखना चाहिए कि कोई मनुष्य जो समाजवाद के दार्शनिक आधारों पर ध्यान नहीं देता वह अपने को समाजवादी कहने का अधिकारी नहीं है।

समाजवाद के कई भेद हैं; कई प्रकार का समाजवाद होता है। अंग्रेजी शब्दों में, समाजवाद के कई 'स्कूल' हैं। लेकिन जितने भी स्कूल हैं समाजवाद के, जितने भी प्रकार हैं समाजवाद के, सब की तह में अपनी-अपनी अलग दार्शनिक दृष्टि है। बिना उस दार्शनिक दृष्टि को समझे समाजवाद किसी तरह से टिक नहीं सकता। लेकिन यह अफसोस की बात है कि हममें से बहुत कम लोग समाजवाद में दिलचस्पी रखते हैं। मैं भले ही कोशिश करूं कि दार्शनिक बातों को बहुत ही सरल भाषा में आपके सामने रखूँ, फिर भी विषय ऐसा है कि शायद मुझको पूरी सफलता न मिल सके। यदि न मिली तो सिवाय इसके कि मैं आपसे क्षमा मांगूँ और मेरे पास चारा क्या है? दूसरी वजह यह है कि ६ के बदले ६।। हो गये हैं। अधिकांश लोग थके मांदे होंगे। बहरहाल, यह आशा करता हूँ कि जैसे आपने दिन भर तकलीफ बर-दाश्त की, वैसे ही थोड़ी देर तक और बरदाश्त करेंगे।

यदि मैं आप लोगों का ध्यान इस ओर ला सका कि यह विषय सचमुच अध्ययन करने लायक है, यह विषय सचमुच विचार करने लायक है, यदि मैं इतना भाव आप लोगों के दिलों में पैदा कर सका, तो मैं अपने को कृतकृत्य मानूंगा।

इस समय देश में सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था, 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' है; सबसे अधिक सदस्य उसके हैं और इस समय देश में सर्वत्र उसके नाम पर शासन हो रहा है। कांग्रेस ने अपना लक्ष्य यह कहा है कि हम समाज का समाजवादी ढंग से संगठन अथवा संव्यूहन स्थापित करना चाहते हैं। अकेले कांग्रेस का ऐसा घ्येय नहीं है, सोशलिस्ट पार्टी भी समाजवाद का नाम लेती है, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी भी समाजवाद का नाम लेती है और कम्यूनिस्ट पार्टी भी समाजवाद का ही नाम लेती है। भले ही कम्यूनिस्ट दोस्तों के मुंह से आप कम्यूनिज़्म का शब्द सुनें, लेकिन आप जानते हैं कि कम्यूनिज़्म के आचार्यों ने ऐसा कहा है कि समाजवाद, सोशलिज्म का जो अन्तिम और परिपक्व रूप है वही कम्यूनिज़्म है, अर्थात जो आदमी कम्यूनिज़्म की बात करता है, निश्चय ही, वह सोशलिज़्म की, समाजवाद की बात करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि देश में जो कई बड़ी-बड़ी राजनीतिक पार्टियां हैं, राजनीतिक दल हैं, जो शासन चला रहे हैं या शासन चलाने की आशा करते हैं, जो ऐसे प्रश्नों पर विचार कर सकते हैं, उन सबने समाजवाद का नाम लिया है, किसी न किसी रूप में समाजवाद को अपना घ्येय बताया है, फिर एक बड़ी संख्या देश में ऐसे लोगों की भी है जिनका किसी राजनीतिक दल से सम्बन्ध नहीं है लेकिन कुछ अपने मन में उन्होंने ऐसा समझ रखा है कि समाजवादी ढंग की व्यवस्था यदि चलायी जाय तो देश का कल्याण होगा।

इस बात को देख कर तो बड़ी खुशी होती है। लेकिन यदि हम थोड़ी सी गहराई में जायं, तो हम देखेंगे कि इनमें केवल शब्दमात्र की समता है, इसके आगे और कुछ नहीं। जहां तक कम्यूनिस्ट पार्टी की बात है, उसके सामने एक तस्वीर है, एक निश्चित तस्वीर है। भले ही किसी को वह तस्वीर अच्छी लगे, किसी को वह तस्वीर बुरी लगे, लेकिन उनके सामने एक ढांचा है। वह आपको बता सकते हैं कि जब वे समाजवाद की बात करते हैं, सोशलिस्ट सोसाइटी की बात करते हैं तो उनके मन में क्या चीज़ है? हो सकता है, हममें से कुछ लोगों का ख्याल हो कि वह तस्वीर बहुत अच्छी नहीं है, लेकिन एक है तस्वीर और उस तस्वीर के पीछे बहुत बड़े-बड़े लोगों का नाम है, मार्क्स का, ऐंगिल्स का, लेनिन का, स्टेलिन का, ऐसे लोगों का नाम है जो दुनिया में अपना निशान छोड़ गये हैं, दुनिया में अपनी कीर्ति छोड़ गये हैं और चाहे उनसे कोई सहमत हो, चाहे उनसे कोई असहमत हो, लेकिन दुनिया उनको हमेशा याद रखेगी। अब दूसरे लोगों को यदि हम देखें तो जहां तक सोशलिस्ट पार्टी की बात है, डाक्टर लोहिया साहब ने कुछ ज़रूर विचार की सामग्री दी है, लेकिन मेरे ख्याल में वह पर्याप्त नहीं है। जो सबसे बड़ी संख्या है, कांग्रेस जन

की, उनके सामने करीब-करीब कोई तस्वीर नहीं है। भले ही, बहुत से कांग्रेस जनों के मन में यह विचार हो कि हम कम्यूनिज़्म पसन्द नहीं करते। यह उनके मन में ख्याल हो कि डा० लोहिया के जो विचार हैं, सोशलिस्ट पार्टी के जो विचार हैं, वह उनको पसन्द नहीं हैं। लेकिन यदि उनमे ब्योरे की बात पूछी जाय कि वे उनको क्यों पसन्द नहीं हैं, क्या उनमें खराबी देख पड़ती है आपको, तो उनके लिए ठीक-ठीक बताना बड़ा कठिन होगा। उन्होंने तात्विक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है और मुझको ऐसा लगता है कि जो लोग प्रजा समाजवादी पार्टी में हैं उनके सामने भी कोई स्पष्ट तस्वीर नहीं है। करीब-करीब उनकी हालत भी वैसी ही है जैसी कि कांग्रेस जन की। जो देश में और लोग हैं, जिनका किसी पार्टी से सम्बन्ध नहीं है, उनमें ऐसे व्यक्तियों की बात तो मैं नहीं कह सकता, जिन्होंने कोई बड़ा गहरा अध्ययन किया हो, साधारण लोगों की बात ऐसी है कि उनके सामने भी किसी प्रकार की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है कि जब वे भी समाजवाद का जिक्र करते हैं, देश में समाजवादी शासन या समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने की बात सोचते हैं, तो वे क्या स्थापित करना चाहते हैं। एक बात ज़रूर है, कि कोई समाजवादी हो, किसी प्रकार का समाजवादी हो, दो चार बातों का जिक्र वे जरूर करेंगे जैसे कि, जमींदारी प्रथा नहीं होनी चाहिए, जो उत्पादन के बड़े-बड़े साधन हैं, कल-कारखाने हैं, बड़ी-बड़ी मशीनें हैं इस तरह की चीजें हैं समाज के हाथ में होनी चाहिए, व्यक्तियों के हाथ में नहीं होनी चाहिए। पूंजीशाही नहीं होनी चाहिए, शोषण नहीं होना चाहिए, ऐसी बातों को कह देंगे, सभी लोग कह देंगे, लेकिन इससे कुछ काम चलता नहीं क्योंकि जितने प्रकार के लोग अपने को समाजवादी कहते हैं, वे सभी इन बातों को कहते हैं। अगर इतने ही में समाजवाद होता, तो मतभेद की कोई बात ही नहीं, सभी लोग एक ही बात कहते हैं। यदि हम यह कहें कि जो लोग कांग्रेस की विचारधारा की बात मानते हैं, और कहते हैं कि साहब, हमको एक चीज़ से बड़ा भारी मतभेद है, कम से कम कम्यूनिस्ट लोगों से; हम अहिंसा की बात करते हैं और वह हिंसा की। यह ख्याल काफी नहीं है। आज कांग्रेस की इतनी सरकारें हैं, आखिर, हमने पुलिस रख छोड़ी है, कभी न कभी तो पुलिस बल का प्रयोग करती ही है। हमने आज फौज रख छोड़ी है। फौज को अगर किसी का मुकाबला करना ही पड़े तो वह अहिंसा के ज़रिये तो मुकाबला करेगी नहीं। इसलिए जिन लोगों ने समाजवादियों के ढंग की बात की है, समाजवादी व्यवस्था कायम करने की बात की है और अपने को कांग्रेस जन कहते हैं वह भी हर अवस्था में, उनमें से प्रत्येक व्यक्ति हर अवस्था में, अहिंसा की ही बात करता हो, ऐसी बात नहीं है।

दूसरी तरफ यह कहना भी ग़लत है कि कम्यूनिज़्म के साथ हिंसा का कोई नित्य का गठबंधन है, कम्यूनिस्ट खासतौर से हिंसक हैं, ऐसी बात नहीं है। ज़रूर, वह हिंसा को बुरा नहीं कहता। आवश्यकता पड़ने पर, यदि आवश्यकता समझ में आये, और कोई दूसरा साधन न देख पड़े, तो वह हिंसा से काम लेगा। लेकिन कोई कम्यूनिस्ट ऐसा नहीं होगा जो कि यह कहे कि नहीं, अहिंसा से काम चल सकता है तो भी हम जबरदस्ती हिंसा से काम लेंगे। इसमें भी कोई फर्क की बात नहीं होती। हमको इन बातों के पीछे और गहराई में जाना होगा तभी हमारी समझ में आयेगा कि भिन्न-भिन्न प्रकार के समाजवाद के स्कूलों में क्या फर्क है और कम से कम हमको अपने यहां कैसा समाजवाद चाहिए, हम क्या चाहते हैं? केवल शब्दों से, दो-चार शब्दों से, दो-चार नारों से, स्लोगन से काम नहीं चला करता। आप देखें, आज अपने देश में पंचवर्षीय योजना चलायी जा रही है। एक खत्म हुई, दूसरी चल रही है, तीसरी इसके बाद आयेगी। इसमें कुछ संदेह नहीं है कि पंचवर्षीय योजनाओं से फायदा हुआ है। यह पक्षपात की बात होगी, अगर कोई शख्स यह कहे कि इससे कोई फायदा नहीं हुआ है। लेकिन कुछ बातें ऐसी हैं जिनकी तरफ हमको ध्यान देना चाहिए। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि यदि ऐसा हो जाय कि हमारी पंचवर्षीय योजना पूरी तरह से सफल हों, तो क्या होगा। आज हम जनता के सामने यही बात कहते हैं कि हम एक कल्याणकारी राज्य, वेलफेयर स्टेट, कायम करना चाहते हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा लोगों का कल्याण होगा, लोगों का वेलफेयर होगा, यही बात हम कहते हैं।

वेलफेयर के क्या माने हैं? आज जो साहित्य निकलता है, आमतौर से उसमें वेलफेयर के माने होते हैं कि लोगों को अच्छा खाना मिलेगा, भरपेट खाने को मिलेगा, कपड़े की कोई दिक्कत न होगी, आराम से रहने को मकान मिलेगा, लड़कों-बच्चों की पढ़ाई का इन्तजाम होगा, तन्दुरुस्ती अच्छी रहेगी। मोटे तौर से जब कल्याण शब्द का व्यवहार किया जाता है तो इन्हीं बातों का जिक्र किया जाता है, वेलफेयर शब्द का जब व्यवहार होता है तो साधारण तौर से मनुष्य के सामने यही चीज़ें होती हैं। लेकिन आप जरा ध्यान करें, हिटलर के जमाने में भी यही था। हिटलर के जमाने में जर्मनों को खाने-पीने की तकलीफ़ नहीं थी, रहने-सहने की कोई तकलीफ़ नहीं थी, बेरोज़गारी नहीं थी, उनके लड़के-बच्चों के लिए शिक्षा का भी प्रबंध था और बहुत से ऐसे देशों से काफी अच्छा प्रबंध था जो अपने को समाजवादी कहते होंगे। लेकिन क्या हिटलर के जमाने को आप समाजवादी शासन कह सकते हैं? सच्चे अर्थों में उसे क्या कल्याणकारी राज्य कह सकते हैं? इस बात को सोचना

होगा कि जब मनुष्य के सामने हम वेलफेयर की बात करते हैं, एक आदर्श की चीज़ रखते हैं तो इसमें इन चीज़ों के अलावा कई और चीज़ें भी होती हैं। आपको मालूम होगा कि अभी ऊटी में, मदरास में जिसे उटकमंड कहते हैं, एक सेमीनार हुआ था। वहां बहुत से विद्वान लोग इसलिए जमा हुए थे कि जो देश की तृतीय पंचवर्षीय योजना होगी, उसके लिए रूप-रेखा तैयार की जाय। जो लोग उसमें शरीक हुए थे, उनमें प्रमुख स्थान दिल्ली यूनीवर्सिटी के डा० राव का था। उन्होंने उस मौके पर वहां विचार के लिए एक लेख लिखा था, जो वहां पढ़ा गया। उसमें उन्होंने कहा था कि आज हम देखते हैं कि पंचवर्षीय योजनाएं चल रही हैं लेकिन कोई न कोई बात ज़रूर है कि जनता के मन में जितना उत्साह देख पड़ना चाहिए उतना नहीं है। प्रत्यक्ष है कि लोगों को फायदा होता है, लेकिन न जाने क्यों उतना उत्साह नहीं देख पड़ता। उन्होंने मिसाल दी थी कि जब कांग्रेस के आन्दोलन चलते थे, हज़ारों की संख्या में स्वयंसेवक आते थे, वे हर तरह की तकलीफ़ सहने को तैयार रहते थे, एक अजीब उत्साह था। वह उत्साह इस समय क्यों नहीं आता। उन्होंने एक चीज को सामने रखा था। उसी सिलसिले में वहां डा० राव के लेख के ऊपर एक मेरा भी लेख था। उसमें से थोड़ा सा आपके सामने सुनाता हूं। वह अंगरेज़ी में था :

Dr. Rao's reference to Congress Volunteers is apposite. Those men expected no reward. The immediate prospect before them was imprisonment, fine, ill-treatment in prison, humiliation, *lathis* and some time bullets and yet they came in hundreds and thousands ignoring all hazards, prepared to sacrifice everything. The reason was that they had been touched by a message which lifted them above themselves. That is lacking in the present case. We speak about the good things of life but forget the simple psychological fact that one can't raise a man above himself by lifting him by his shoe-lace.

मैंने कहा था कि यह बिल्कुल ठीक बात है, हज़ारों की संख्या में स्वयंसेवक आता था, वह जानता था कि जेलखाने जाना होगा, ज़ायदाद जब्त हो जायगी, जुर्माना होगा; वह जानता था कि शायद सड़क पर गोली चल जाय, सब कुछ सहता था। बेइज्जती होगी, सब कुछ होगा, जब वह सामने आता था तो तैयार होकर आता था। आज लोग नहीं आते, क्यों नहीं आते ? एक बात हमको हमेशा याद रखना

चाहिए, कि त्याग किस चीज़ के लिए होता है, इसका हमेशा ख्याल रखें। आप हज़ारों वर्ष का पृथ्वी का इतिहास पढ़ जाइए। आप देखेंगे कि संसारी, भौतिक चीज़ों के लिए आज तक मनुष्य ने कभी त्याग नहीं किया। रोटी के लिए त्याग नहीं होता। रोटी के लिए बलवा हो सकता है; लोग भूखे हों दूकानों को लूट सकते हैं, पुलिस गोली चला दे, फ़ौज गोली चला दे, उसका सामना मजबूर होकर कर लेंगे; लेकिन दुनिया के इतिहास में आज तक कभी यह हुआ ही नहीं कि रोटी के लिए, कपड़े के लिए, मकान के लिए इस तरह की संसारी चीज़ों के लिए कभी मनुष्य ने त्याग किया हो। त्याग तभी होता है जब मनुष्य के सामने अपने से कोई ऊंची चीज़ आदर्श के रूप में आती है। आज पंचवर्षीय योजना चाहे चले चाहे न चले, आज किसी प्रकार के कल्याणकारी राज्य की बात हो अथवा न हो, लेकिन हर राज्य में, हर जगह रोटी-कपड़े के लिए लोग अपने से भी कोशिश करते ही हैं। हमेशा रोटी-कपड़े के लिए कोशिश करते हैं। आप रोटी-कपड़ा अच्छा दिला देंगे, खाने-पीने का अच्छा प्रबंध कर देंगे, लेकिन ऐसी चीज़ों के लिए कभी त्याग नहीं होता। महात्मा जी के जमाने में इसलिए लोगों ने त्याग किया कि देश एक बहुत बड़ी चीज़ है, अपने से ऊंची चीज़ है। उस चीज़ के साथ तादात्म्य कायम हो गया, उसके लिए सब कुछ बलिदान हो सकता है। हम आज लोगों से कैसे त्याग करा सकते हैं? अपनी पंचवर्षीय योजना के लिए त्याग हो सकता है और हुआ भी। लेकिन जितना हम चाहते हैं, जितनी हम आशा करते हैं उतना नहीं हो सकता और वह इसलिए नहीं हो सकता कि लोगों के सामने कुछ ऊंचा आदर्श नहीं है। एक अंगरेज़ी कहावत जिसको मैंने उद्धृत किया है कि यदि किसी आदमी को आप ऊपर उठाना चाहें तो उसके जूते में जो फीता होता है उस फीते को पकड़ कर कितना ही ऊपर उठाया करिए, वह शरीर से ऊंचा थोड़े ही जायगा, सिर से ऊपर नहीं उठेगा। सीधी बात है कि भौतिक बातें, संसारी बातें, जिन बातों को आदमी, बिना किसी प्रेरणा के, बगैर किसी स्फूर्ति के रोज़ करता है उन चीज़ों के बल पर कभी त्याग नहीं हो सकता। लोगों के सामने, कोई आदर्श रखना होगा, जो भौतिक न होकर रोज़ के जीवन से ऊपर उठाने वाला हो। ऐसा आदर्श हम लोगों के सामने कोई नहीं है। अतएव अगर हमको पंचवर्षीय योजनाओं को सफल करना है, अगर हमारे लिए कल्याणकारी राज्य, समाजवादी शब्दों का कोई अर्थ होता है, तो उसके अंदर कहीं न कहीं से कोई आदर्श निकलना चाहिए, कोई न कोई आदर्श सामने होना चाहिए। यह भी एक ऐसी बात है जिसके लिए हमको समाजवाद का अर्थ, उसके तात्विक आधार को समझने की ज़रूरत है। आज हम शिक्षा के ऊपर करोड़ों रुपया खर्च

करते हैं। ठीक है, शिक्षा में अच्छा स्कूल भी होना चाहिए, फर्नीचर होना चाहिए, साइंस का सामान होना चाहिए, यह कि दुनिया भर की चीज़ें होना चाहिए। पाठकगण अच्छे होने चाहिए। यह सब बात सही है, लेकिन शिक्षा में एक बहुत बड़ी चीज़ है और वह यह कि जिस व्यक्ति को शिक्षा देना है उसकी बाबत हमारे क्या विचार हैं; किस तरह का आदमी हम पैदा करना चाहते हैं। शिक्षा इसलिए दी जाती है कि समाज के लिए अच्छे नागरिक पैदा हों। यह कहा जाता है। अच्छा नागरिक कौन है ? अगर वह आदमी जिसको हम शिक्षा देते हैं शिक्षा पाने के बाद स्कूल के बाहर, कालेज के बाहर, यूनीवर्सिटी के बाहर निकला और उसके अन्दर वही राग-द्वेष जो मामूली आदमी के अन्दर होता है, बना रहा, तो वह जिस समाज का अंग होगा वह समाज कैसा होगा ? वह समाज उसी प्रकार का होगा। अगर मैं स्कूल-कालेज में शिक्षा पाने के बाद यह भाव लेकर निकला कि किसी तरह भी हो मुझको तो आगे बढ़ना है, अपनी तरक्की की बात करनी है, तो जिस समाज का मैं अंग हूं वह समाज भी वैसा ही होगा, जिसमें दूसरों के अधिकारों का अपहरण होगा। अगर मैं दूसरों के अधिकारों का किसी प्रकार अपहरण कर सकता हूं तो जिस समाज में मैं हूं वह समाज भी दूसरों के अधिकारों का अपहरण करेगा। कहां शांति रह सकती है ? शिक्षा का आदर्श कोई न कोई दूसरा होना चाहिए। कोई ठिकाने का आदर्श होना चाहिए। किस प्रकार का मनुष्य हम पैदा करना चाहते हैं, यह चीज़ अच्छी तरह से साफ़ और स्पष्ट होनी चाहिए। जब तक यह चीज़ स्पष्ट नहीं होती है तब तक हम ठीक-ठीक नागरिक भी तैयार नहीं कर सकते। यह भी जानने की ज़रूरत है कि जो समाजवादी व्यवस्था हम सोचते हैं, उस समाजवादी व्यवस्था में हम कैसा मनुष्य चाहते हैं, किस प्रकार के नागरिक चाहते हैं। जो आज के नागरिक से किसी मानी में भिन्न हो, वह नागरिक कैसा होगा ? यह भी हमको आपके सामने स्पष्ट करना होगा। शिक्षा की कोई न कोई तस्वीर रखनी होगी।

समाजवाद के इतिहास को थोड़ा सा सामने रखना है। पश्चिम में समाजवाद जब कायम हुआ या उसे कायम करने की जो कोशिश हुई, उसकी एक विशेष आवश्यकता थी। आप जानते हैं कि आज से चार-पांच सौ वर्ष पहले युरोप के आदमी बहुत गरीब थे, और अगर ग्रीस और रोम को छोड़ दें तो सभ्यता में उन्होंने कोई बहुत ऊंचा दर्जा हासिल नहीं किया था। आज से चार-पांच सौ वर्ष हुए कई नयी बातें पैदा हुईं। एक तरफ भारतवर्ष का रास्ता खुल गया, दूसरी तरफ अमरीका का रास्ता खुल गया। सम्पत्ति, धन उनके पास आया, साम्राज्य कायम हुए।

इन सब बातों के ज्यादा विस्तार में मैं नहीं जाता। नये-नये रोज़गार, नये-नये उद्योग सामने आये। बहुत तरह की मशीनें निकलीं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो धन-सम्पत्ति बहुत बढ़ी और दूसरी तरफ वह धन-सम्पत्ति कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रीभूत हुई। इस तरीके से पूंजीशाही, पूंजीवाद का जन्म हुआ। इससे लोगों को तकलीफ़ हुई। पिछले दो-तीन सौ वर्षों के भीतर समय-समय पर बहुत से विद्वान ऐसे पैदा हुए जिन्होंने इस सम्बन्ध में विचार किया, पुस्तकें लिखीं कि कैसे क्या किया जाय। यह भी एक अवस्था है कि कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में बहुत सा रुपया-पैसा जमा हो गया है। इस अवस्था को दूर किया जाय। अंत में मार्क्स और ऐंगिल्स ने इस चीज़ में सबसे आगे सबसे बड़ा कदम उठाया। उन्होंने कम्यूनिज्म को जन्म दिया। सच बात तो यह है कि आज दुनिया में यों तो कई प्रकार के सोशलिज़्म हैं; लेकिन जब समाजवाद का लफ़्ज इस्तेमाल किया जाता है तो अधिकांश लोग उससे वही समाजवाद समझते हैं जिसका प्रतिपादन मार्क्स और ऐंगिल्स ने किया था। साधारण तौर से जब तक कि कोई दूसरा विशेषण न लगाया जाय उसी से लोगों का मतलब होता है। हमारे देश में जो समाजवाद आ रहा है वह दूसरी तरह से आ रहा है। हमारे यहां यह बात नहीं है कि पूंजीशाही बड़े ज़ोर से फैल गयी है, उसके विरुद्ध कोई एक विद्रोह की भावना पैदा हो गयी है, बल्कि जिस वक्त हमारे यहां अंगरेज़ी राज्य कायम था उस वक्त से देश में विचार करने वाले जो लोग थे, दुनिया की हालत देख कर, रूस की तरक्की देख कर, और बातों को देख कर उनकी समझ में यह बात आयी कि जब कभी अपने हाथ में अधिकार आये तो हमें अपने देश में भी किसी न किसी प्रकार की समाजवादी व्यवस्था कायम करनी चाहिए। जब शासन की व्यवस्था अपने हाथ में आयी, तब से जो सबसे बड़ी संस्था कांग्रेस है, उसमें लोगों ने सोचना शुरू किया कि हमको भी अपने देश को समाजवाद की तरफ ले जाना है। यह किसी विद्रोह के फलस्वरूप नहीं था। नीचे से पूंजीशाही के विद्रोह के रूप में यह भावना नहीं पैदा हुई बल्कि ऊपर से यह चीज़ आयी। जो विचारक लोग थे, जो शासक लोग थे, उन्होंने इस चीज को फैलाया कि हमको अपने यहां समाजवादी ढंग की व्यवस्था कायम करनी है। अब हमको थोड़ा सा सोचना चाहिए कि हम किस तरह की समाजवादी व्यवस्था करना चाहते हैं और क्या चाहते हैं?

समाजवाद, खासतौर से मार्क्सी समाजवाद को समझने के लिए थोड़ा सा हीगल के दार्शनिक विचारों को समझना ज़रूरी है। बिना उसके काम चल नहीं सकता। मैं पहले ही माफी मांग चुका हूं कि दर्शन का विषय टेढ़ा होता है। फिर भी

मैं जितने थोड़े में निवेदन कर सकूंगा आपके सामने करूंगा। हीगल यूरोप के बहुत बड़े विचारक एवं दार्शनिक हुए हैं। उनका जो दार्शनिक सिद्धान्त है उसको कहते हैं, 'आइडियलिज़्म'। आइडियलिज़्म का कोई अच्छा अनुवाद तो क्या करें, अक्सर उसका अध्यात्मवाद ऐसा कुछ अनुवाद कर दिया जाता है। लेकिन जब हम लोग अध्यात्म शब्द का व्यवहार करते हैं तो उसमें कुछ पूजा-पाठ की तरह जैसी बात रहती है। दार्शनिक विचार में पूजा-पाठ जैसी कोई बात नहीं होती। कोई अच्छा शब्द न मिलने से उसे अध्यात्मवाद कह दिया जाता है। उसका सारांश यह है कि यह जो ब्रह्माण्ड देख पड़ता है, जीव-जगत देख पड़ता है, यह जो संसार देख पड़ता है इसके मूल में जो चीज़ है वह चेतन है, एक चेतन तत्व है, एक चेतन पदार्थ है। उस चेतन पदार्थ का विस्तार सारा का सारा जगत है और वह चेतन पदार्थ अनेक रूप बदलते-बदलते आज इस रूप में आया है। यह बात तो बिल्कुल नयी नहीं है, इसे और लोगों ने भी कहा है। उदाहरण के लिए हमारे देश में एक सिद्धांत है, जिसको वल्लभाचार्य का 'शुद्धाद्वैत' सिद्धान्त कहते हैं। वल्लभाचार्य का सिद्धान्त यही है कि जीव-जगत के मूल में एक चेतन पदार्थ है। उसे परमात्मा कहिए, ईश्वर कहिए, ब्रह्म कहिए, जो चाहे सो कहिए। उसी पदार्थ का विस्तार सारे ब्रह्माण्ड में देख पड़ता है। लेकिन हीगल के सिद्धान्त में और वल्लभाचार्य के सिद्धान्त में एक बड़ा भारी फर्क है। वल्लभाचार्य का कहना यह है कि उस चेतन पदार्थ ने, जिसको परमात्मा कह लीजिए, उसने अपनी इच्छा से अपनी लीला करने के लिए अपने को इस सारे जगत के रूप में बदल दिया है। अपनी मर्जी से उसने अपने को बदला और सारे जगत का निर्माण किया है। हीगल ऐसा नहीं मानते। हीगल का कहना है कि कुछ नियम हैं। उन नियमों के अनुसार उस पदार्थ का आप से आप परिवर्तन हुआ है, अपनी इच्छा से नहीं कि लाओ हम संसार के रूप में अपने को बदल लें। ऐसा नहीं है। बल्कि नियम हैं, अटल नियम हैं, अकाट्य नियम हैं, जिन नियमों के अनुसार वह जो चेतन पदार्थ है उसका परिवर्तन होते-होते यह सारा का सारा जगत बन गया।

अब इसके एक कदम आगे, एक बात और याद रखने की है। हीगल उस समय में थे जब कि जर्मनी के ऊपर नैपोलियन की फ़ौजों का हमला हो रहा था और केवल इतना ही नहीं था कि नैपोलियन की फ़ौज जर्मनी पर राज्य कायम कर लेती बल्कि फ्रांस की जो संस्कृति थी, फ्रांस की जो सभ्यता थी, फ्रांस की जो विशेष विचारधारा थी, वह जर्मनी के ऊपर बुरी तरह से हावी होती जा रही थी, जिसके मानी यह हुए कि यदि वह चीज़ बराबर रहती तो एक तरह से जिसे जर्मनी का व्यक्तित्व

कहना चाहिए वह खत्म हो जाता। जर्मनी में छोटे-बड़े कई राज्य थे, लेकिन उनमें यदि सबसे बलवान कोई राज्य था तो प्रशा का राज्य था। इसलिए प्रशा ने थोड़ा बहुत मुकाबला किया लेकिन अकेले उसमें इतनी शक्ति तो थी नहीं कि नैपोलियन का मुकाबला कर सके। हीगल प्रशा के रहने वाले थे। हीगल ने सोचा कि अगर हमको किसी तरह से फ्रांसवालों का मुकाबला करना है, अगर फ्रांस के आक्रमण को हटाना है तो एक ही तरीका है, कि प्रत्येक जर्मन, कम से कम प्रशा का रहने वाला प्रत्येक नागरिक, अपनी सारी शक्ति, तन-मन-धन जो उसके पास है, वह सब का सब प्रशा राज्य को समापित कर दे, प्रशा के राज्य को प्रत्येक आदमी सब कुछ अर्पित कर दे तभी किसी तरह से फ्रांस का मुकाबला हो सकता है। इसलिए जो उनका दार्शनिक सिद्धान्त था उसको उन्होंने एक कदम आगे बढ़ाया। उन्होंने यह कहा कि वह जो चेतन पदार्थ है, जो इस जगत का मूल है, उसका सबसे बड़ा प्रतीक, सबसे बड़ी मूर्ति कह लीजिए, अगर इस जगत में कोई है तो वह राज्य (स्टेट) है। यह उनका सिद्धान्त राजनीतिक सिद्धान्त हुआ। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उसी चेतन पदार्थ से बना है। लेकिन हम अपूर्ण हैं, पूर्ण नहीं हैं। अज्ञान हमारे अंदर है, जिसकी वजह से अपने को पूरा नहीं समझ सकते, जगत को पूरा नहीं समझ सकते। हमारा हित इसी बात में है कि हम अपने को पूरे तौर से राज्य को अर्पित कर दें। जो राज्य की इच्छा वह हमारी इच्छा। वह कहते हैं कि अगर आदमी समझदार होता, पूर्ण रूप से ज्ञानी होता तो उसकी समझ में यह बात आ जाती कि राज्य की जो इच्छा, आज्ञा के रूप में उसको दी जाती है वही उसकी असली इच्छा है। मिसाल के लिए किसी आदमी को राज्य ने यह हुक्म दे दिया है कि उसे फांसी दे दो। तो कहिए, उस आदमी को कभी ऐसा लगता है कि हमारी यह इच्छा है कि हम फांसी दिये जायं। लेकिन नहीं, वह कहते हैं कि यदि वह पूरा समझदार होता तो उसको यही प्रतीत होता कि सचमुच मेरी इच्छा भी यही है कि मुझको फांसी दे दी जाय। यह समझना कठिन हो सकता है। लेकिन बहरहाल इस सिद्धान्त की यही एक ऐसी चीज़ थी, जिसने कि प्रशा के राज्य को बलवान बनाया, कि प्रत्येक व्यक्ति की पूर्णता इसी बात में है कि वह राज्य के साथ अपने को पूरी तौर से मिला दे। उसका कोई अपना अलग महत्व नहीं है। जैसे हमारा शरीर है और हाथ हैं। चाहे जितना भी अच्छा हाथ क्यों न हो, हाथ की महत्ता क्या है ? इसी बात में हाथ की महत्ता है कि वह शरीर का हाथ है। आंख की महत्ता क्या है ? इसी बात में आंख की महत्ता है कि वह शरीर की आंख है। शरीर से अलग हाथ का कोई महत्व नहीं है, शरीर से अलग आंख का कोई महत्व नहीं है। शरीर से अलग किसी भी अवयव का कोई महत्व

नहीं है। जो कुछ भी उसकी महत्ता है, उसके जीवन का जो कुछ भी अर्थ है, वह इसी बात में है कि वह इस शरीर का अंग है।

दूसरी बात, जो कुल है, कुल के सामने टुकड़े का क्या अधिकार हो सकता है? यह जो हमारा शरीर है, यदि यह कहें कि शरीर के मुकाबले में हाथ का यह अधिकार है, इसका कोई अर्थ नहीं होता। इसी तरह से वह कहते हैं कि राज्य के सामने किसी व्यक्ति का कोई जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है।

आज हमारे संविधान में कई मौलिक अधिकार गिनाये हुए हैं, जो कहना चाहिए हमारे स्वयंसिद्ध अधिकार हैं। हीगल के मत के अनुसार किसी व्यक्ति का कोई जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। अधिकार वही है जो राज्य अपनी ओर से दे दे। सुविधा के लिए राज्य लोगों से कह देता है कि तुम खाओ, पिओ, कमाओ, घर-मकान बनाओ, जो कुछ वह कह दे। लेकिन यदि कोई यह कहे कि किसी मनुष्य का, किसी व्यक्ति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है, यह बात ग़लत है। जो अधिकार राज्य ने दिया वह आपका अधिकार है। बाकी राज्य जब चाहे उस अधिकार को ले सकता है, दूसरा कोई अधिकार हासिल नहीं हो सकता, मौलिक अधिकार कोई नहीं। थोड़े में, यही हीगल का सिद्धान्त है।

अब एक बात आप समझ सकते हैं, इसका परिणाम क्या होगा? उसका आगे मैं आपसे थोड़ा सा जिक्र करूंगा। जब कार्ल मार्क्स मैदान में आये तो उन्होंने क्या किया? एक मानी में उन्होंने हीगल के मत को ज्यों का त्यों ले लिया, एक फर्क कर दिया। हीगल ने कहा था कि जगत के मूल में जो कुछ है वह एक चैतन्य पदार्थ है। मार्क्स ने यह कहा कि जगत के मूल में जो कुछ है वह जड़ पदार्थ है, निर्जीव है। लेकिन उस निर्जीव पदार्थ का विकास उसी नियम के अनुसार हुआ जिस नियम से कि हीगल के कहने के अनुसार चैतन्य पदार्थ का विकास हुआ था, ठीक वैसे ही इसका विकास हुआ। अब हम लोग भी अपने को चैतन्य समझते हैं। कीड़े-मकोड़े, मनुष्य सभी चैतन्य हैं। चेतनता उनमें कहां से आयी? वह कैसे कह सकते हैं कि जब जड़ पदार्थ का विकास हो रहा था तो होते-होते एक ऐसी अवस्था आयी कि जिससे उसमें एक विशेष प्रकार का गुण प्रकट हो गया, जिसको कहते हैं चेतनता। मिसाल के लिए हमारे यहां जो प्राचीन आचार्य हो गये हैं उन्होंने मिसाल दी है कि एक पान का पत्ता होता है। उसका एक स्वाद है। चूने का अपना एक अलग स्वाद है, कत्थे का अपना एक अलग स्वाद है, सुपाड़ी का अपना अलग स्वाद है। इन सब को मिला दीजिए तो एक विशेष प्रकार का स्वाद होता है जिसको आप पान का स्वाद कहते हैं। न वह पान में था, न कत्थे में था और न चूने में था, न

सुपाड़ी में था; कहीं भी नहीं था। अगर पान, सुपाड़ी, कत्था और चूना अलग-अलग हो जायं तो वह स्वाद गायब। इसलिए जिसको हम प्रत्येक जीव में चेतन कहते हैं उसको आत्मा कहें, जो कुछ चाहे कह लीजिए, वह भौतिक पदार्थों का आकस्मिक गुण है। इस शरीर के बनने से पहले वह था नहीं, इस शरीर के नष्ट हो जाने के बाद रहेगा नहीं। इस बात को उन्होंने कहा। बाकी और हीगल वाली बात मान ली। दूसरी जो राज्यवाली बात थी, उसको भी उन्होंने मान लिया। लेकिन फर्क यह था कि राज्य की जगह पर उन्होंने 'समाज' के लफ्ज़ का इस्तेमाल किया। बाकी अगर आप गम्भीरता से विचार करके देखें तो करीब-करीब बिल्कुल वही बात है। वहां राज्य सर्वोपरि है, यहां समाज सर्वोपरि है। समाज के सामने व्यक्ति का अलग कोई अधिकार नहीं, व्यक्ति का कोई जन्मसिद्ध अधिकार नहीं हो सकता। व्यक्ति की सिवाय इसके कि वह समाज का अंग है, अपनी कोई महत्ता नहीं है। समाज की तरक्की व्यक्ति की तरक्की है, जो समाज का हित वही व्यक्ति का हित है। इसके सिवाय व्यक्ति का कोई अलग हित नहीं हो सकता, उसका अलग कोई अधिकार नहीं हो सकता। उसके जीवन की सार्थकता इसी बात में है कि वह समाज के जीवन के साथ अपने को तन्मय कर दे। इन दोनों सिद्धान्तों से एक बात स्वभावतः निकलती है। समाज की इच्छा या राज्य की जो इच्छा है, वही व्यक्ति को अभीष्ट है। समाज की इच्छा क्या है? राज्य की इच्छा क्या है? जब राज्य या समाज का नाम लिया जायगा तो मानी यह होंगे कि उस राज्य या समाज में जिन लोगों के हाथ में शासन-अधिकार है, उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई दूसरी चीज़ हो नहीं सकती। जब हम कहते हैं कि राज्य की ऐसी मर्जी है, राज्य की ऐसी इच्छा है, तो उसके मानी यह है कि जिन लोगों के हाथ में राज्य का शासन है उनकी ऐसी इच्छा है। राज्य की, समाज की ऐसी इच्छा है। जो लोग समाज में आज अधिकार रखते हैं उनकी ऐसी इच्छा है। ये शब्द सुनने में बड़े अच्छे लगते हैं लेकिन उनका इसके सिवाय दूसरा कोई अर्थ नहीं है कि जो लोग अधिकार में आते हैं उनकी यह इच्छा है। वह भी मनुष्य हैं। कितना भारी कोई मनुष्य क्यों न हो, राग-द्वेष उसके अन्दर भी होगा, लेकिन यह मान लेना कि उसकी इच्छा निर्बिकार है, निर्दोष है, यह कहां तक सही है? यह आप सोचें। यदि यह मान लिया जाय कि जो थोड़े लोग हैं उनकी इच्छा सर्वोपरि है तो इन बातों से सिवाय इसके कि किसी न किसी प्रकार की अधिनायक-शाही हो, इसके अलावा दूसरी कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती। इसका एक बड़ा अच्छा उदाहरण है। प्रशा के जो पहले सम्राट् थे फ्रेडरिक दि ग्रेट वह एक बार अपनी राजधानी बर्लिन में घोड़े पर जा रहे थे। उस समय मोटर तो थी नहीं।

उनके साथ फ्रांस के विद्वान वालटेयर भी थे। उन्होंने किसी सड़क पर एक जगह ऊंचे पर एक नोटिस लगी देखी, जिस पर लिखा था—"बादशाह बड़ा नालायक है, बड़ा ज़ालिम है, बड़ा दुष्ट है।" उसमें बहुत सी गाली-ग़लौज की बात लिखी थी। खड़े होकर उन्होंने उसे पढ़ लिया। पढ़ने के बाद अपने आदमियों से कहा, "एक काम करो। नोटिस होशियारी से दीवाल में से निकाल लो और उसे ज़रा और नीचे लगाओ, ताकि जो सड़क पर चलें वह इसको आराम से पढ़ सकें।" वालटेयर ने कहा "इसमें आपको इतना बुरा-भला कहा गया है, इसका क्या मतलब ?" उन्होंने कहा "हमारे यहां मेरे और मेरी प्रजा के बीच एक समझौता है। मैंने उसको गाली देने का अधिकार दे रखा है लेकिन काम जो होगा वह मेरी इच्छा से होगा।" यह एक सिद्धान्त हुआ। सोचने की बात है कि जब हम समाजवाद की बात करते हैं तो क्या हम निश्चित रूप से समाजवाद चाहते हैं ?

समाजवाद के सिलसिले में एक दूसरी भी विचारधारा हो सकती है। कई लोगों ने उन प्रश्नों पर विचार किया है। समाजवाद की जो दूसरी विचारधारा मैं आपके सामने रखता हूं, वह विचारधारा यह है कि हम में से प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक चेतन पदार्थ है। उसको आत्मा या जो जी में आये कहिए। वह नित्य है, शरीर से पहले भी वह था और चूंकि नित्य है, इसलिए शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी रहेगा। एक नित्य चेतन पदार्थ हमारे भीतर है। उस दूसरी विचारधारा के अनुसार यह बात मान लेने की है कि यह जो शरीर के भीतर चेतन पदार्थ है वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। पूरी तरह से उसको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है लेकिन प्रत्येक क्षण वह अपने स्वरूप को जानने के लिए बराबर कोशिश करता रहता है। संसार में संघर्ष देख पड़ते हैं, लड़ाई-झगड़े देख पड़ते हैं, राग-द्वेष देख पड़ता है। लेकिन ऐसे लोगों का कहना यह है कि वस्तुतः किसी मनुष्य को किसी दूसरे मनुष्य से, किसी जीव को किसी जीव से कोई दुश्मनी नहीं है। होता है क्या ? जैसे एक कमरा है, बिल्कुल अँधेरा कमरा है। उस अँधेरे कमरे में बहुत से आदमियों को आप बंद कर दीजिए। प्रत्येक आदमी निकलने की कोशिश करेगा। किसी को किसी दूसरे से दुश्मनी नहीं है, लेकिन निकलने की कोशिश में वे ज़रूर एक दूसरे से कभी न कभी टकरा जायंगे। प्रत्येक मनुष्य खुद अपना छुटकारा चाहता है, प्रत्येक मनुष्य उस कमरे से बाहर निकलना चाहता है, दूसरे भी चाहते हैं, उसी निकलने की कोशिश में, नासमझी के कारण, अज्ञान के कारण ऐसा होता है कि आप कभी टकरा जाते हैं। उसी तरह से प्रत्येक जीव चाहता है अपना छुटकारा। छुटकारा किस चीज़ से ? अज्ञान से। अज्ञान की वजह से अविद्या है, अज्ञान की वजह से उसके

अंदर दुर्बलता है। इन बंधनों से प्रत्येक क्षण वह छूटना चाहता है। ऐसे तो वह छूट नहीं सकता। इसी वजह से राग और द्वेष उसके अंदर देख पड़ते हैं। अब ऐसे साधन होने चाहिए जिनके बल पर वह अपने स्वरूप को पहचान सके, अपने अज्ञान को दूर करके खुद अपने चेतन स्वरूप को जान सके।

साधन कई तरह के होते हैं। इन साधनों में राज्य भी एक साधन है, सोसायटी भी एक साधन हो सकती है, स्कूल भी एक साधन हो सकता है, नियोजन भी एक साधन हो सकता है। बीस साधन हैं, लेकिन ये जितनी भी चीज़ें हैं ये सब साधन हैं और इनकी पहचान, इनकी कसौटी, इनकी परख यही है कि जीव का जो असली लक्ष्य है, वह अपने अज्ञान को दूर करना है, उस लक्ष्य को वे कहां तक सिद्ध करते हैं। आप देखें पहले से इसमें जमीन-आसमान का फर्क हो गया। वहां यह चीज़ थी कि मुख्य चीज़ राज्य है और व्यक्ति का अर्थ वहीं तक है जहां तक वह अपने को राज्य में मिला देता है। यहां भी एक मुख्य चीज़ है व्यक्ति, वही साधन अच्छा है, वही राज्य अच्छा है, वही संगठन अच्छा है जो व्यक्ति की मदद करता है। जो संगठन व्यक्ति की मदद नहीं करता वह संगठन अच्छा नहीं। पहले मत में, चाहे वह हीगल का मत हो, चाहे जिस किसी का, समाज के लिए, समष्टि के लिए, जमात के लिए व्यक्ति है। यहां यह है कि व्यक्ति के लिए जमात है, व्यक्ति के लिए समाज है। दोनों में जमीन आसमान का अंतर हो गया। यह एक विचारधारा है जो भारत के लोगों को पसन्द है और जिस विचारधारा पर कई लोगों ने विचार किया है। कई पुस्तकों में भी इस पर विचार हुआ है। मैंने अभी आप से ऊटी के सेमीनार का ज़िक्र किया था। उसके बाद 'प्लानिंग सब-कमेटी' ने उसकी एक रिपोर्ट भी तैयार की थी। मैं ऊटी की सेमीनार रिपोर्ट का एक अंश आपको पढ़ कर सुनाता हूं। यह पहला मौका है जब कि कांग्रेस के कुछ विद्वानों ने बैठ कर इस तरह के प्रश्नों पर विचार किया और उस पर एक राय कायम की :

"The fuller expression of human personality is the basic aim of the socialist society. This expression and development must be made possible for all members of society or group. Life has meaning to the extent it serves this essential purpose. The full development of the personality of man, the work and the dignity of an individual are essential elements of a democratic socialist society."

समाजवादी ढंग के शासन की विशेषता यह है कि व्यक्ति को पूरे तौर से

विकसित होने का मौका रहता है, व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को पूरे तौर से खिलने देने का मौका मिलना चाहिए और जितनी भी ग्रुप-लाइफ है, जितना भी सामूहिक जीवन है, चाहे राज्य का हो चाहे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का हो, चाहे जो कुछ भी हो, उसकी सार्थकता वहीं तक है जहां तक कि उसके द्वारा व्यक्ति को विकसित होने का मौका मिलता है। यह जो भारतीय समाजवाद होगा उसका एक बड़ा भारी सिद्धान्त है, बड़ी भारी एक आधार-भित्ति है, एक बड़ी भारी आधार-शिला है, जो कि हममें से हर आदमी को सोचना चाहिए। अच्छी-बुरी की बात आप सोचें। लेकिन जो कम्यूनिस्ट आधार-शिला है, कम्यूनिस्ट फिलासफी है उसमें इसमें जमीन-आसमान का फर्क है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

अब हमारा सिद्धान्त सुनिए। एक और चीज़ है। कम्यूनिस्ट साहित्य में आप इस बात का ज़िक्र देखेंगे कि मनुष्य और मनुष्य में, वर्ग और वर्ग में बराबर संघर्ष जारी है। वर्ग-संघर्ष बराबर जारी है। अब यह वर्ग-संघर्ष कैसे खत्म हो। वर्गहीन समाज होना चाहिए। कैसे हो, जब कि बराबर वर्ग-संघर्ष जारी है। इस वर्ग-संघर्ष को दूर करने का एक ही उपाय है वह यह कि एक वर्ग इनमें से खत्म हो जाय। पूंजीपति या मिल-मालिक हैं, उनका एक वर्ग है। दूसरा वर्ग है मजदूरों का। सम्पन्न और विपन्न के दो वर्ग हैं। यह संघर्ष बराबर चलता रहेगा और खत्म तभी होगा जब इनमें से एक वर्ग खत्म हो जाय। कौन वर्ग ख़त्म होगा? ज़ाहिर बात है कि जो थोड़े हैं वही ख़त्म होंगे। सम्पन्न ख़त्म होंगे; पूंजीवाले ख़त्म होंगे, जो मालिक हैं, वे खत्म होंगे, जैसा कि अपने ढंग से रूस में हुआ; चाहे उसके परिणाम-स्वरूप लाखों आदमी मरे हों। लेकिन ऐसा मानना चाहिए कि उसमें सफलता हुई। वर्ग कुछ न कुछ ख़त्म हुआ, वर्गहीन समाज बन गया।

हमारे यहां के सिद्धान्त में इसके लिए जगह नहीं। जो हमारा समाजवाद होगा उसमें इसके लिए जगह नहीं होगी। यह बात सही है कि समाज में संघर्ष देख पड़ता है। समाज में संघर्ष भले ही देख पड़ता है, लेकिन समाज के उस संघर्ष को दूर करने का हमारा उपाय दूसरा है। पहले तो एक बड़ी दिक्कत की बात हो गयी है वह यह कि विकासवाद की एक बात को लेकर अर्थशास्त्र और राजनीति में बड़ी गड़बड़ी हो गयी है। डार्विन ने जिस समय विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उन्होंने बताया कि प्राणियों की जातियों का जो विकास हुआ है उसमें एक चीज़ बराबर देख पड़ती है कि प्राणियों में निरन्तर संघर्ष है। दो पेड़ लगा दीजिए पास-पास में, मिट्टी के लिए, हवा के लिए, खाद के लिए लड़ाई होगी। एक पेड़ ऊपर बढ़ेगा, एक सूख जायगा। मनुष्य-मनुष्य में लड़ाई होती रहती है। मानव समाज में

तलवार बन्दूकों की लड़ाई होती है। पदों के लिए उम्मीदवारों में लड़ाई होती है। जगह खाली होती है, सौ आदमी उसके उम्मीदवार होते हैं, हर उम्मीदवार सोचता है कि मुझको जगह मिल जाय चाहे ९९ आदमी मरें, चाहे कुछ भी हो। सभी जगह संघर्ष देख पड़ता है। लेकिन यह सोचने की बात है कि क्या जो है उसको होना चाहिए। मनुष्य के स्तर पर पहुंच करके यह सोचने का मौका आता है कि जो है, जो अब तक होता आया है क्या उसको होना भी चाहिए। दुनिया में चोरी होती है। प्राचीन से प्राचीन काल तक से चोरी होती आयी है तो क्या चोरी होनी चाहिए। मनुष्य को यह सवाल पूछने का मौका मिलता है। आप देखें कि मनुष्य ने इस सवाल का जवाब कैसे दिया ? पशुओं में संघर्ष होता है लेकिन वहां यह कभी नहीं होता कि जो पशु दुर्बल है उसके लिए कोई परवाह की जाय। लेकिन जो मनुष्य दुर्बल हैं उनके लिए सब साधन हैं। जो कमाने लायक नहीं हैं उनको मनुष्य बैठा के खिलाता है। जिनकी बुद्धि काम लायक नहीं है, जो पागल हैं, जो समाज को नुकसान पहुंचा सकते हैं, उनको वह पागलखाने में बैठा कर भोजन कराता है; जो शत्रु हैं उनको, खा जाने के बदले, मार डालने के बदले, कैदी बना कर रखता है। उनके आराम और तकलीफ़ की फिक्र करता है। मनुष्य की मनुष्यता इसी बात में है। जहां तक संघर्ष वाली बात थी वह जरूर इस समाज में थी लेकिन जितना ही मनुष्य संघर्ष के ऊपर उठा उतना ही मनुष्य मनुष्य हुआ। उतनी ही मनुष्य की संस्कृति फैली, उतनी ही मनुष्य की सभ्यता फैली। संघर्ष की बात समाज में रही है, लेकिन जितना ही मनुष्य संघर्ष के ऊपर उठ सका है उतना ही मनुष्य संस्कृति में, सभ्यता में, मनुष्यता के रास्ते में उन्नति कर सका है।

हमको यदि वर्गहीन समाज कायम करना है तो उसका रास्ता भी कुछ सोचना चाहिए। हमारे यहां उसका जो रास्ता सोचा गया है वह यही है कि वर्गहीन समाज कायम करने के लिए वर्गों का संघर्ष इस तरह से दूर न किया जाय कि कोई एक वर्ग नष्ट कर डाला जाय बल्कि वर्गों में सहयोग की मात्रा पैदा की जाय। हम भी मार्क्स की सोसाइटी चाहते हैं, हम भी वर्गहीन समाज चाहते हैं लेकिन किसी एक वर्ग को मार डाल के नहीं; किसी एक वर्ग को खत्म करके नहीं। हाल की बात हमारे सामने है। हमने जमींदारी का उन्मूलन किया, इसको दूर करने के दो रास्ते थे। एक रास्ता वह था जैसा कि दूसरे देशों में हुआ, लाखों आदमी मारे गये, काटे गये। हमने उस रास्ते को अख्तयार नहीं किया। हमने यह सोचा कि ज़मींदार भी मनुष्य हैं। इस प्रथा का भले ही अंत करना है किन्तु उनको मार कर नहीं। हमने उनको मार नहीं डाला, बल्कि उनको जीवित रहने का मौका दिया; हमने उनको खाने-पीने

का मौका दिया, उनके लड़के-बच्चों को पढ़ाने का मौका दिया। एक तरीका यह भी है। बात तो वही हुई, जिसको और लोगों ने एक तरीके से किया उसको हमने दूसरे तरीके से किया। हमारा जो दार्शनिक आधार होगा, हमारा जो दार्शनिक तरीका होगा उसके अंदर जहां हमको संघर्ष ख़त्म करना है, वर्गहीन समाज बनाना है वहां इस तरह से नहीं कि बराबर बढ़ाते-बढ़ाते एक को मार डाला जाय, एक को ख़त्म कर डाला जाय; बल्कि इस तरीके पर कि आपस में उनके अंदर सहयोग की भावना आ जाय, दोनों ही समाज के हित में लग जायं ताकि आप से आप संघर्ष समाप्त हो जाय। एक चीज़ और बड़े महत्व की है। वह है साधन और साध्य का सवाल। यहां मैं हीगल की बात नहीं कहता। शुरू-शुरू में हमारे देश में जब कम्यूनिज़्म आया, और देशों में भी आया तब 'बुर्जुआ मौरेलिटी' शब्द अक्सर सुनने में आते थे। सच बोलना, दान करना आदि फालतू चीज़ें बुर्जुआ मौरेलिटी की बातें हैं। असल में मोरेलिटी की कसौटी यह हो सकती है कि हमारा लक्ष्य ठीक होना चाहिए; निःस्वार्थ होना चाहिए। ऐसी बात होनी चाहिए, जो समाज के हित की हो। हम समाज के हित को सामने रखें, अपने स्वार्थ की बात न सोचें। उसके आगे फिर यह भी कहना पड़े कि सच बोल कर इस कार्य को करेंगे; या अमुक तरीके से करेंगे; तो यह बेवकूफ़ी की बात होगी। यह तय कर लीजिए कि हमारा लक्ष्य अच्छा है, साफ़ है, शुद्ध है, उसके बाद जिस किसी तरीके से भी मतलब सिद्ध हो जाय, येन-केन-प्रकारेण, जैसे भी काम हो जाय, वही तरीका अच्छा है, सिद्ध है।

जहां तक हमारे यहां की बात है, हमारे यहां का सिद्धांत कहता है कि शुद्ध लक्ष्य (Pure End) के लिए अशुद्ध साधन (Impure Means) से काम नहीं लिया जा सकता। महात्मा जी ने बार-बार इसी बात पर ज़ोर दिया है। लक्ष्य हमारा भले ही शुद्ध हो, लेकिन शुद्ध लक्ष्य के लिए शुद्ध साधन से ही काम लेना होगा। यह हमारे यहां की एक खास बात है। साधन और साध्य दोनों की बहुत महत्ता है, साधन और साध्य दोनों को बराबर महत्ता देनी है। यहां एक खास बात और पैदा होती है। हमारी एक विशेषता है—सहिष्णुता (Tolerance)। यह भी एक बहुत बड़ी चीज़ है। असहिष्णुता के पीछे अच्छी नीयत होते हुए भी नुक्सान होता है। संसार का अगर मोक्ष हो सकता है, तो जो तरीका मैं बतलाता हूं उससे मोक्ष हासिल करना होगा, यह असहिष्णुता का रूप है। आज किसी के राजनीतिक विचार हैं, हमको पसन्द नहीं आते। हम उनको आगे नहीं बढ़ने देंगे। ऐसे देश हैं जिनमें दूसरे विचारों को अखबार प्रतिपादित नहीं करते। दूसरी पार्टियों के विचार सामने नहीं आ सकते। हम जहां तक धर्म का विषय है यह कहते आये हैं कि

रुचीणां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

सभी मनुष्य चाहे वह किसी प्रकार की उपासना करें उसी ईश्वर तक पहुंचते हैं। जैसे सभी नदियां घूम फिर कर समुद्र में पहुंचती हैं। दूसरों की राय सुनने के लिए उन्हें अपने मत को प्रकट करने के लिए मौका देना चाहिए। इंगलैण्ड का एक किस्सा है, दो आदमियों में बातचीत चल रही थी। एक ने कहा कि तुम्हारी राय गलत है लेकिन अगर कोई तुम्हारी गलत राय को रोके तो मैं तुम्हारे लिए उससे लडूंगा। उसी तरह से हमारे यहां सहिष्णुता का भी बहुत बड़ा स्थान है। नियोजन उप-समिति (प्लानिंग सब-कमेटी) की रिपोर्ट में एक चीज़ है उसकी तरफ़ आपका ध्यान दिलाता हूं:

"The discipline for life and education are the proper method for achieving this. In our relationship with our neighbours we must work for harmony. Spirit of tolerance and love for service are indispensable for it in our relationship with other nations of the world. It must be reflected in our works for peaceful coexistence."

हमेशा अपने पड़ोसी, चाहे पड़ोसी व्यक्ति हो चाहे राज्य हो, उसके साथ हमको सहिष्णुता से काम करना होगा, सेवा के भाव उनके साथ रखने होंगे। जनता-राज्य के लिए हमको इस बात की कोशिश करनी होगी। हमारे देश में इस प्रकार की विचारधारा है। दूसरे देश में दूसरी तरह की विचारधारा है। एक देश में किसी एक प्रकार का शासन है, किसी दूसरे देश में किसी दूसरे प्रकार का शासन है लेकिन सभी मिलजुल कर एक दूसरे के साथ रह सकते हैं। इस बात के लिए हमको कोशिश करनी होगी। इसलिए यह जो हमारा समाजवाद है उसका दार्शनिक आधार हम लोगों को समझना जरूरी है।

एक सवाल आता है कि कर्तव्य क्या है, करणीय क्या है? अच्छा काम किसको कहते हैं? यह बड़े महत्व का सवाल आता है। जैसा मैंने पहले आप से कहा था, विचार करने का एक तरीका यह हो सकता है कि जो भी हमारा लक्ष्य अच्छा है वह सहयोग से पूरा हो। सोचने का एक दूसरा तरीका भी है। भारतीय दर्शन में उस पर खासतौर से जोर दिया गया है। उसको हम आपके सामने रखना चाहते हैं। इसमें जोर इस बात पर दिया गया है कि यह जो हमारा मनुष्य का शरीर

है तथा इस मनुष्य के शरीर में जितने भी अवयव हैं, उन सबका कल्याण इसी बात में है कि सभी एक दूसरे के साथ सहयोग करें। अगर कोई अवयव किसी दूसरे अवयव के साथ सहयोग नहीं करता तो सारे शरीर का नुक्सान करता है। इसी बात का ज़िक्र करते हुए हमारे यहां बार-बार कहा गया है कि बराबर एक दूसरे की मदद करते हुए, एक दूसरे का ख्याल करते हुए ही अपने कल्याण को प्राप्त करना होगा। इस बात पर खासतौर से ज़ोर दिया गया है और इसीलिए हमारे यहां एक बात और कही जाती है वह यह कि आज दुनिया में हर जगह अधिकार का संघर्ष बड़ा भारी है—हमारे यह अधिकार हैं, हमारे वह अधिकार हैं। भारतीय दर्शन में इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया। आप जितनी भी पुरानी किताबें हैं उनको उठा कर देख डालिए जैसे वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र की बात आती है। वर्ण-व्यवस्था अच्छी चीज़ हो या बुरी चीज हो, जैसी भी हो, लेकिन जितनी भी पुरानी किताबें आप देखेंगे उनमें लिखा होगा कि ब्राह्मण का धर्म यह है, अर्थात् ब्राह्मण को यह काम करना चाहिए। क्षत्री का धर्म यह है, क्षत्री को अमुक-अमुक कार्य करना चाहिए। वैश्य को फलां-फलां काम करना चाहिए। शूद्र को फलां-फलां काम करना चाहिए। हमारी किसी भी पुरानी किताब में यह नहीं लिखा मिलेगा कि फलां-फलां के ये अधिकार हैं। जहां भी लिखा मिलता है इसी बात का ज़िक्र मिलता है कि फलां को फलां काम करना चाहिए और यह ज़ाहिर बात है कि अगर हर आदमी अपने कर्तव्य को करता है तो उसके अधिकार आप से आप मिल जाते हैं। विद्यार्थी का कर्तव्य यह हो सकता है कि अध्यापक जब क्लास में आये तो उनको प्रणाम करें या उनको देख के खड़े हों। मास्टर साहब को यह कहने की जरूरत नहीं, कि देखो, यह हमारा अधिकार है कि जब हम क्लास में आते हैं, तुम खड़े हो और हमको सलाम करो। यदि विद्यार्थी अपना कर्तव्य करता है तो अध्यापक का जो अधिकार है वह उसे स्वयं बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाता है। हमारे यहां इसका बार-बार ज़िक्र किया गया है। इस बात का एक वजह से और ज़िक्र किया गया है, वह यह कि आज कितने लोगों का एहसान हमारे ऊपर है इसका हमको अंदाज़ नहीं। दो चार दस आदमी हों तो उनके एहसान हम जानते हों। प्रकृति में हजारों प्रकार के पशु हैं, हजारों प्रकार के पक्षी हैं, हजारों प्रकार के कीड़े-मकोड़े हैं और हमारे जाने-अनजाने और जितनी भी चीज़ें हैं उन सभी का उपकार हमारे ऊपर है। कितने लोगों का उपकार है कितने लोगों के सहयोग से हमारा यह काम चल रहा है। हम किस-किस के मुकाबले में अपने अधिकार की बात करते रहें, किस-किस से अधिकार छीनने की बात करें। लेकिन सिवाय इसके दूसरा

उपाय नहीं कि ईमानदारी से जहां तक हमारी शक्ति है उस शक्ति के अनुसार हमें अपने कर्तव्य के ऊपर ध्यान देना चाहिए। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य के ऊपर ध्यान देता है, तब जहां तक अधिकार की बात होगी वह बिना परिश्रम के प्राप्त हो जायगा। भारतीय दर्शन इस बात पर खास तौर पर ज़ोर देता है कि मनुष्य को अपने अधिकार की चर्चा न करके अपने कर्तव्य का ज़िक्र करना चाहिए। हमको प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की शिक्षा देनी होगी। विद्यार्थी को लड़कपन से इसकी शिक्षा देनी होगी। आज स्कूल में लड़का पढ़ता है, उसको आज हम इस बात की शिक्षा देना शुरू करते हैं कि उसे करना क्या है, आदर्श क्या है, आगे चल कर तरक्की करना, रुपया पैसा कमाना, बड़े लोगों और जिस किसी को दबा कर आगे बढ़ना। यह उसके सामने हम रखते हैं कि तुम्हारे यह अधिकार हैं, फलां चीज़ के लिए तुम्हारे ये अधिकार हैं, फलां चीज़ के लिए वे अधिकार हैं और उन अधिकारों के लिए कदम-कदम पर लड़ना। कर्तव्य की शिक्षा हम नहीं देते हैं। सब के भीतर हमें बचपन से बार-बार यह भाव भरना होगा कि मनुष्य का जीवन तभी सफल हो सकता है जब अधिकार के ऊपर ध्यान न देकर कर्तव्य की तरफ ध्यान दिया जाय। हम जो नागरिक आगे बनाना चाहते हैं उसको इसी आधार पर हमको बनाना होगा, इसी तरह के नागरिक हमको आगे तैयार करने होंगे।

मैं कह रहा था करणीयता और अकरणीयता की बात। उसमें एक चीज़ और ध्यान देने की है। सब से अच्छा काम कौन सा होता है? ऐसा वह कौन सा काम है जिसकी हम आप सब तारीफ़ करते हैं कि यह काम बहुत अच्छा है? एक घर में आग लग गयी, कोई जल रहा हो, एक आदमी है हिम्मत करके उसको निकालने के लिए उसमें बैठ जाता है। कोई ऐसा नहीं जो इस बात की तारीफ़ न करे कि बड़ा अच्छा काम हुआ, अपनी जान पर खेल कर निकालने की उसने कोशिश की। एक आदमी डूब रहा है, ऊपर से कोई पानी में कूद पड़ा बग़ैर इस बात की परवाह किये कि हमारा क्या होगा, उसको बाहर निकाल लिया या निकालने की कोशिश करता है। सभी कहेंगे कि यह अच्छा काम है, आप इस काम को जरा देखें। इस काम की अच्छाई इस बात में है कि जिस वक्त यह काम किया जाता है उस वक्त दोनों के बीच की दीवार गायब हो जाती है। एक आदमी भूखा रहता है उसको जब हम अन्न देने चलते हैं तो यह ख्याल हो सकता है कि मैं इस आदमी को, क्योंकि यह भूखा है, इसको पेट भर अन्न दे रहा हूं। लेकिन जिस वक्त आदमी जान पर खेल कर इस तरह का काम करता है तो बचाने वाले और जो बचाया जाता है दोनों के बीच की दीवार ग़ायब हो जाती है। वही काम सब से अच्छा है जिस काम में द्वैत

बुद्धि या भेद-बुद्धि ग़ायब हो जाय। हम अच्छे काम कर सकें इससे लोग पानी में न डूबा करेंगे; अच्छे काम कर सकें इससे आग नहीं लगा करेगी। लेकिन अपने सामने यह आदर्श रखने की बात है। अपने काम की कसौटी यह होनी चाहिए कि वह कौन से काम हैं जो भेद-बुद्धि दूर करते हैं। मैं और तुम, मेरा और तेरा, इस भाव को दूर करने वाले कौन से काम हैं? जितना ही हम इस बात को सामने रखेंगे उतना ही हमारा जीवन अपने यहां के आदर्श के मुताबिक होगा और हमारा समाजवाद सफल होगा।

आज नियोजन के सिलसिले में एक चीज़ का ज़िक्र होता है। सब लोगों को मितव्ययता करनी चाहिए। बहुत जिक्र मितव्ययिता में इस बात का रहता है कि सादगी से रहना चाहिए। मेरे पास अगर पैसा ज़्यादा है तो मैं बाजार से सामान खरीद कर साल भर के लिए घर में रख दूं, कोई और भूखा रहे, ऐसा नहीं करना चाहिए। मितव्ययिता का ख्याल क्यों करें? इसका जवाब देना बड़ा मुश्किल है। उसका भी अगर जवाब मिल सकता है तो इसी बात में मिल सकता है कि अगर मेरे और पराये के बीच में फर्क है तो मैं दूसरे के लिए मितव्ययिता नहीं करता हूं; लेकिन अगर मेरे और पराये के बीच में फर्क नहीं है, मेरे और तेरे के बीच अगर फर्क नहीं है, तो मितव्ययिता के सिवाय आदमी के सामने दूसरा कोई रास्ता आ ही नहीं सकता।

एक चीज़ और है। प्राचीन काल से लेकर आज तक आदमी ने अनेक प्रकार की शासन-व्यवस्था रखी है। जाने कितने प्रकार की शासन की व्यवस्था हुई। एक आदमी के हाथ में राज्य हुआ, दो आदमी का राज्य अर्थात् द्वैत राज्य हुए। रिपब्लिक अनेक प्रकार की हुई। जाने राजशाही कितने प्रकार की हुई। कुछ बातें ऐसी हैं कि प्रत्येक राज्य, जो अच्छा राज्य है, देने की कोशिश करता है। किसी भी पार्टी का राज्य हो, लोगों को खाने-पीने की सुविधा देगा, कोई किसी को मारे-काटे नहीं, लूट-पाट से बचाना यह सभी राज्य करते हैं। और अगर इतनी ही बात हो तो आप देखेंगे कि इन चीज़ों में मनुष्य के जीवन में और पशु के जीवन में बड़ा भारी फर्क नहीं है। आप एक कुत्ता पाल लीजिए। कुत्ता चाहेगा कि उसको खाने-पीने को मिल जाय, आराम से बैठा रहे, उसकी ज़िन्दगी बीत जाय आराम से। लेकिन मनुष्य ऐसा है कि खाने-पीने की चीज़ों के अलावा कभी-कभी उसके मन में एक विशेष प्रकार की भूख पैदा होती है, ज़रूर अपने शासक को देख कर एक भूख पैदा होती है। वह अपने शासक को देखता है, शासक भी मनुष्य है। उससे भी ग़लती होती है। कभी-कभी जी चाहता है कि शासक की ग़लती को उससे अपने मुंह से हम कहें।

अगर वह नहीं कह पाता है, चाहे डर के मारे न कह सके, हिम्मत न पड़े, लेकिन उसकी आत्मा संकुचित रहती है, वह दबा हुआ अनुभव करता है और जितना उसका विकास होना चाहिए, नहीं हो पाता। अगर ऐसा होगा तो कभी न कभी एक दिन विस्फोट होगा, कभी न कभी एक दिन विद्रोह होगा, कभी न कभी एक दिन बलवा होगा। चाहे अंत में जो कोई भी जीत जाय लेकिन अगर मनुष्य बराबर दबाया जायगा तो एक बार कभी न कभी उठेगा ज़रूर। यह भी कोई अच्छी चीज़ नहीं कि लोग दबाये रहें और एक बार जब असह्य हो जाय तो फूट पड़े उनकी अशांति। इस वास्ते कोई न कोई तरीका निकाला जाता है। जो तरीका निकाला गया, वह लोकतंत्र है। अगर मनुष्य को विकास का पूरा-पूरा मौका देना है, मनुष्य की आत्मा को पूरे तौर पर विकसित होने का मौका देना है, मनुष्य के व्यक्तित्व को फैलने देना है तो मनुष्य की आत्मा को असन्तुष्ट नहीं होने देना चाहिए। इसलिए भारतीय समाजवाद के साथ लोकतंत्र बंधी हुई चीज़ है। दोनों अलग हो ही नहीं सकते। जैसे दूसरा तरीका जो था उसमें मैंने आपसे कहा था कि, चाहे वह कुछ भी हो, उसका नाम कुछ भी हो, उसके साथ कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अधिनायकशाही बंधी हुई चीज़ है। जहां पर यह चीज़ है कि राजा हो, सम्राट हो या स्टेट अथवा समाज का जो भी शासक हो वहाँ उसी से राज्य चलता है। लेकिन जहां पर भारतीय समाजवाद होगा उससे हम लोकतंत्र को अलग कर नहीं सकते, क्योंकि जब उसका लक्ष्य ही यह है कि व्यक्ति को फैलने देना है, व्यक्ति को उभरने देना है तो जब तक लोकतंत्र न हो किसी और तरीके से व्यक्ति उभर नहीं सकता। इसलिए भारतीय समाजवाद में सिवाय लोकतंत्र के और दूसरी किसी प्रकार की कोई शासन-व्यवस्था चल नहीं सकती।

मैंने शासन-व्यवस्था की बात की। इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए, जो शायद मैंने पहले कांग्रेस का ज़िक्र करते हुए, सहिष्णुता का ज़िक्र करते हुए कही थी कि हर प्रकार की राय को, हर प्रकार की विचारधारा को पूरी तौर पर फैलने का मौका होना चाहिए। जिस किसी व्यवस्था में कला के ऊपर, साहित्य के ऊपर, दर्शन के ऊपर, विज्ञान के ऊपर रोकथाम हो, जहां पर यह कहा जाय कि यह बात हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है इसलिए ऐसी बात आप नहीं कह सकते, आपको दंड दिया जायगा, वह भारतीय समाजवाद नहीं हो सकता और चाहे जो कुछ भी हो।

मैंने घंटे भर के करीब आपका समय लिया। मैं नहीं कह सकता कि जो कुछ कहना चाहता था वह कह सका या नहीं, लेकिन जैसा कि मैंने पहले निवेदन किया

था, यदि इतना मैं आपके सामने रख सका कि कोई शख्स इस समय तक अपने को समाजवादी कह नहीं सकता जब तक कि वह समाजवाद के दार्शनिक आधारों को न समझे। यह विषय विचार करने का, गौर करने का है। यदि यह बात मैं आपके सामने रख सका तो मैं समझता हूँ कि मैं सफल हुआ।

श्री श्रीमन्नारायण

आर्थिक संयोजन के मूल सिद्धान्त

अध्यक्ष जी, भाइयो और बहनो,

मुझे जान कर खुशी हुई, जब डा० सम्पूर्णानन्द जी ने बताया कि इस वर्ष पूज्य पंत जी की साल-गिरह के अवसर पर एक व्याख्यान-माला का आयोजन किया गया है। अच्छा है, ऐसे अवसरों पर हम कुछ गंभीर विषयों पर चर्चा करें, सोच-विचार करें और कुछ बातों पर मनन करें कि हमको अपना देश किधर ले जाना है। मुझे जो विषय बताया गया वह है—'आर्थिक संयोजन के मूल सिद्धांत'। यह विषय तो मेरा बहुत वर्षों से रहा है, इसलिए मैंने खुशी से यहां आना स्वीकार किया, पसन्द किया और मैंने सोचा कि अच्छा है आप लोगों के सामने कुछ विचार, जिन पर बहुत वर्षों से मैंने सोचा है, पेश कर सकूं।

आजकल आर्थिक संयोजन के बारे में चर्चा बहुत है, अपने देश और विदेशों में भी। एक तरह से कहें, तो यह नियोजन का युग है। चाहे साम्यवादी देश हों, जैसे रूस, चीन और पूर्वी यूरोप के देश या पश्चिम के देश हों, जहां कि पूंजीवाद है, या एशिया के देशों में, सब जगह आजकल आर्थिक संयोजन की चर्चा है और कुछ प्रयत्न भी है। लेकिन यह सोचना कि आर्थिक संयोजन कोई ऐसा जादू है जिसके प्रारम्भ करने से ही सारी कठिनाई दूर हो जायगी सही नहीं होगा। आज हम देखते हैं कि विदेशों से जो बड़े-बड़े नेता आते हैं, एक आम रिवाज हो गया है कि वह योजना आयोग में ज़रूर आते हैं। दिल्ली में विदेशों के प्रधान मन्त्री आते हैं, और लोग आते हैं, जो योजना आयोग में भी आते हैं। इससे जाहिर होता है कि उनमें यह जानने की उत्सुकता है कि हिन्दुस्तान में लोकशाही के आधार पर जो आर्थिक संयोजन चल रहा है, वह क्या चीज है और किस तरह से काम चल रहा है। वे इसे सुनने आते हैं, समझने आते हैं और उनको ऐसा लगता है कि इससे हमारा फायदा होगा। लेकिन यह हमको समझना चाहिए कि सिर्फ आर्थिक संयोजन करने से ही ऐसा जादू नहीं हो जायगा जिससे कि किसी देश का आर्थिक उत्थान फौरन हो सके।

सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि आर्थिक संयोजन हम किस तरह से करें और इसके मूल उद्देश्य क्या हों। आर्थिक संयोजन अगर हम एक पूंजीवादी ढांचे

में करें, तो भी कर सकते हैं, अगर हम चाहें तो समाजवादी ढांचे में कर सकते हैं, चाहें तो साम्यवादी ढांचे में कर सकते हैं। वह एक लचकीली चीज़ है जो हमारे देश की परिस्थिति के अनुसार ढाली जा सकती है। इसलिए जब हम आर्थिक संयोजन के मूल सिद्धांत पर विचार करें तो यह सोचना होगा कि हम किस तरह का संयोजन चाहते हैं। हिन्दुस्तान में सोच-विचार कर हमने यह तय किया कि यहां हम लोकशाही के आधार पर संयोजन करेंगे, साम्यवादी आधार पर नहीं। यद्यपि आप जानते हैं कि जिसको आज समग्र संयोजन (काम्प्रीहेंसिव प्लानिंग) कहते हैं वह पहले-पहल रूस ने १९२८ में शुरू किया और उसके बाद उनकी कई पंचवर्षीय योजनाएं हो गयीं। इसके बाद जो पूर्वी युरोप के देश हैं वहां आर्थिक संयोजन हुआ। पश्चिम के देशों में आर्थिक संयोजन समग्र दृष्टि से नहीं हुआ। अमरीका में आप जानते होंगे कि प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने लगभग १९३२ में 'न्यू डील' के नाम से कुछ संयोजन किया, 'नेचुरल रिकवरी ऐक्ट' बना। अमरीका में बहुत जोरों की मंदी आयी और उन्होंने कोशिश की कि बेकारी कैसे दूर करें तो उन्होंने शहरों में, देहातों में बहुत से काम खोले, मजदूरों की मजदूरी की दरें निश्चित कीं, वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये आदि। लेकिन उसको हम समान दृष्टि से आर्थिक संयोजन नहीं कह सकते। इंगलैण्ड में भी 'बीवरेज प्लान' का शायद आपने नाम सुना होगा। १९४४ में सामाजिक सुरक्षा के लिए यह बनी थी। बुढ़ापे के लिए, बेकारी के लिए या अगर कोई फैक्टरी में अपघात हो जाय तो उसके बीमा के लिए, बच्चों के लिए, बीमारी वगैरह के लिए उन्होंने सामाजिक सुरक्षार्थ संयोजन किया। एक 'सामाजिक सुरक्षा योजना' बनायी गयी लेकिन उसे भी कोई राष्ट्रीय योजना नहीं कह सकते, क्योंकि जीवन के हरेक क्षेत्र में वह संयोजन उन्होंने नहीं किया।

हिन्दुस्तान पहला देश है जिसने लोकशाही के आधार पर समग्र संयोजन किया। यह जानना चाहिए, क्योंकि अक्सर हम भूल जाते हैं, जब चीन या रूस से मुकाबला करते हैं, कि दुनिया में हमने एक बड़ा प्रयोग किया है। वह प्रयोग सब से पहले हमीं ने शुरू किया, इंगलैण्ड ने नहीं किया, अमरीका ने नहीं किया, युरोप के और देशों ने नहीं किया। यह प्रयोग जीवन के हरेक क्षेत्र में हमने किया लेकिन लोकशाही के आधार पर। इस लोकशाही के आधार पर किये गये संयोजन में कई कठिनाइयां हैं। एक कोई काम करना हो, तो रूस में करना आसान है, चीन में करना आसान है क्योंकि वहां कोई दूसरी पार्टी नहीं है। उनकी एक पार्टी है। उसमें भी कुछ चोटी के नेता हैं जो एक चीज तय करते हैं और वह फैल जाती है। नीचे वह

चर्चा जरूर करते हैं लेकिन आखीरी निश्चय होता है ऊपर से और वह गांव-गांव में सारा प्लान बँट जाता है और काम तेजी से चलता है। उनके खिलाफ कोई बोल नहीं सकता, लिख नहीं सकता, कह नहीं सकता। गलतियां अगर हो गयीं तो ऊपर के लोग सुधार लेते हैं। उदाहरण के लिए आप चीन का आंदोलन देखिए। पहले उन्होंने सहकारी कृषि की, उसके बाद कम्यून्स चलाये, मतलब यह कि बीस, पच्चीस, पच्चास हजार की आबादी की उन्होंने एक इकाई बनायी और पूरे मिलिटरी आधार पर उन्होंने संयोजन किया। मतलब सीधा यही था कि हरेक आदमी से काम लेना और उसे कुछ खाना-कपड़ा दे देना, कोई मजदूरी जैसी चीज़ नहीं। हरेक से काम ले लेना और जितना काम वह करता है उससे कम उसको मजदूरी देना ताकि जो बचे वह देश के उत्थान में लगायें। कुछ महीने काम चला। बाद में वह काम ढीला पड़ गया, क्योंकि लोगों ने उस तरह से कोई बलवा तो नहीं किया, कर नहीं सकते, लेकिन देखा गया कि लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ गया, लोग काम करते-करते सो जाते थे। उनका सारा कौटुम्बिक जीवन टूट-फूट गया, खंडित हो गया। उन्होंने देखा कि सारा काम फौज के बल पर हो रहा है। सुबह पांच बजे बिगुल बजे और बराबर लोग उठ गये। नहीं उठे तो सख्ती से काम लिया गया। कुछ महीने यह चीज़ चली लेकिन बाद में ढीली पड़ गयी और आज वहां चर्चा है कि किस तरह उसको आगे चलायें। वह कोई जन-आधारित चीज़ नहीं हुई। एक चीज़ लादी गयी। वहां सख्ती से काम होता है, इसलिए अनुशासन वहां अवश्य अधिक है। लेकिन जहां टीका-टिप्पणी, वाद-विवाद, चर्चाएं चलती रहें वहां बड़ा मुश्किल काम होता है। जहां सख्ती होती है वहां शुरू में कुछ फायदा होता है, काम कुछ हो जाता है। रूस में जैसा हुआ। लेकिन बाद में काम उतनी तेज़ी से नहीं चलता क्योंकि जनता का पूरा सहयोग नहीं होता। यह भी एक बड़ी गलतफहमी है। हमें यह जानना चाहिए कि रूस ने जब १९२८ में आर्थिक संयोजन शुरू किया—प्रथम पंचवर्षीय योजना चलायी, तो लोगों का ख्याल है कि काम बहुत तेजी से हुआ, लेकिन वह विचार भी सही नहीं है। अक्सर यह कहा जाता है कि लोकशाही के आधार पर जो संयोजन होता है, वह धीरे-धीरे चलता है; लेकिन साम्यवादी ढांचे में जो संयोजन किया जाता है, वह तेज़ी से चलता है। लेकिन आप अगर रूस का इतिहास देखें, तो यह बात सही नहीं है। १९२८ में पहले प्लान की रूपरेखा बनी। सन् १९३० में उनका पहला प्लान शुरू हुआ और १० साल तक यानी उनकी प्रथम दो योजनाओं के समय में जितनी खूनखराबी हुई और जितना कृषि-जीवन तितर-बितर हुआ, उस तरह की मिसाल दुनिया के कम ही देशों में मिलेगी। वहां १९३०

से १९४० तक किसानों पर जब सामूहिक कृषि (कलेक्टिव फार्मिंग) लादी गयी तो लाखों-करोड़ों जानवर उन्होंने मार डाले और कहा कि हम ट्रेक्टर से काम नहीं करेंगे, सामूहिक कृषि नहीं करेंगे। एक तरह से बड़ा सत्याग्रह उन्होंने यह किया कि सब जानवर मार डाले। उन्होंने कहा कि न हम जानवरों से खेती करेंगे और न ट्रेक्टरों से खेती करेंगे। दस साल तक रूस में बहुत बुरा हाल रहा। आजकल बड़ी-बड़ी बातें सुनते हैं लेकिन अक्सर लोग भूल जाते हैं, कि दस साल तक जब उन्होंने आर्थिक संयोजन शुरू किया था तो कितना बुरा हाल हुआ। वहां अकाल पड़ा। वहां कृषि-उत्पादन बहुत घटा और लोग परेशान हो गये। बाद में उन्होंने अपनी नीति को बदला और कहा कि हर किसान को हम उसकी व्यक्तिगत एक-दो एकड़ ज़मीन भी देंगे और आज भी आपको शायद पता होगा कि रूस में जो सामूहिक कृषि फार्म हैं, सहकारी फार्म नहीं जो हम सोच रहे हैं, वे दस, बीस, तीस, चालीस, पचास हजार एकड़ वाले बड़े-बड़े विशाल फार्म हैं जहां कि सब काम मशीनों से, ट्रेक्टर, हारवेस्टर आदि से होता है। उन फार्मों के अलावा जो लोगों के व्यक्तिगत फार्म हैं डेढ़ या २ एकड़ वाले, उनमें फी एकड़ उत्पादन ज्यादा है। फी व्यक्ति यदि आप लें तो मशीन से ज़्यादा काम होता है। जाहिर है कि एक आदमी मशीनों की सहायता से ज्यादा काम कर सकता है इसलिए फी व्यक्ति सामूहिक कृषि फार्म में ज्यादा काम हो जाता है। लेकिन फी एकड़ उत्पादन व्यक्तिगत छोटे फार्मों में ज्यादा होता है, क्योंकि सुबह से शाम तक आदमी काम में लगे रहते हैं, उनके बीबी-बच्चे भी लगे रहते हैं, उनके सामने यह सवाल नहीं है कि काम के कितने घंटे हुए। इस तरह से वे काम करते हैं। मेरे कहने का मतलब यह है कि रूस में क्रान्ति हुए ४० साल से ऊपर हो गये। उन्होंने सारा आर्थिक संयोजन एक डर के बल पर, शक्ति के बल पर, राजनैतिक ताकत के बल पर, किया। वहां दूसरी पार्टी नहीं पनपने दी गयी। लेकिन इतने पर भी रूस में यह चर्चा होती है कि उनकी कृषि की या उद्योग की नीति ठीक है या नहीं, या उसमें बदलने की जरूरत है। वे समझते हैं कि वे कई गलतियां कर गये।

भारतवर्ष में आर्थिक संयोजन लोकशाही के आधार पर चल रहा है, शुरू में हो सकता है कि उसकी गति इतनी तेज न हो, यद्यपि यह भी गलत है। मैंने आपको उदाहरण रूस का दिया। दस साल में जितना काम हिन्दुस्तान में हुआ—काफी काम हुआ—उतना काम दस साल में रूस में नहीं हुआ। बाद में हुआ; इसलिए अगर ठीक तौर से प्रयोग किये जायं तो लोकशाही के आधार पर संयोजन तेजी से चल

सकता है। हमने अपने देश में दूसरी गलती यह की कि लोकशाही के आधार पर काम तो शुरू किया लेकिन उसमें नौकरशाही ज्यादा घुस गयी। आप देखें, सामुदायिक योजनाओं का काम, काम तो लोकशाही के ही आधार पर शुरू हुआ था। हमने कहा कि हमको लोगों का सहयोग चाहिए लेकिन पिछले सात वर्षों में हमने लोगों से काम लेने का सिर्फ नारा ही लगाया। लेकिन सचमुच लोगों से काम नहीं लिया, लोगों की संस्थाओं से काम नहीं लिया। लोगों पर उतना विश्वास नहीं किया जितना करना चाहिए और नौकरशाही पर ज्यादा विश्वास किया कि वह ब्लाकों का सब काम चला देगी। हमारे ग्राम-सेवक हैं, ब्लाक-डेवलपमेंट आफिसर हैं और सब आफिसर हैं। लेकिन सात वर्ष के बाद आज हमने महसूस किया कि लोकशाही के आधार पर यदि काम करना था तो लोगों के लिए लोगों द्वारा काम होना चाहिए था, न कि हम लोगों से यह कहें कि काम में मदद दीजिए। मदद किसको दें ? जब लोगों का काम है तो लोग मदद अपने आप को दें और अपना काम उठायें। इसलिए अब हमने यह तय किया कि लोकशाही के आधार पर ही लोगों की संस्थाओं की मार्फत काम हो। लोगों की संस्थाएं, जैसे ग्राम-पंचायत, ग्राम-सहकारी-संघ, ग्राम की शाखा। ये तीन संस्थाएं हमने बुनियादी मानी हैं। हम समझते हैं जब इन संस्थाओं की मार्फत हर काम होगा, उनके द्वारा हम सारा कार्यक्रम चलायेंगे, तभी सही अर्थ में वह लोकतंत्रीय योजना होगी और मैं आशा करता हूं आगे सामुदायिक योजना का काम इसी तरह चलेगा और तृतीय पंचवर्षीय योजना में लोकशाही की दिशा में हम अधिक अग्रसर हो सकेंगे। अपने देश के लिए और दुनिया के लिए भी आर्थिक संयोजन का पहला मूल सिद्धांत मेरी दृष्टि से यह है कि यह संयोजन लोगों के लिए लोगों के द्वारा होना चाहिए, नहीं तो वह न रूस में चलेगा, न चीन में चलेगा और न हिन्दुस्तान में चलेगा। यह ख्याल कि आर्थिक संयोजन का मतलब है कि एक तरह से हमारी व्यक्तिगत आजादी खत्म हो जाय, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य न रहे और अगर संयोजन को सफल बनाना है, तो साम्यवादी ढांचा आना चाहिए, अधिनायकवाद होना चाहिए, गलत है। काफी संख्या में विदेशी लेखक हैं, पश्चिम के देशों के, अमरीका के, इंगलैण्ड के, युरोप के, जो बार-बार यह कहते हैं और हिन्दुस्तान को भी सुना देते हैं कि देखो, संभल के रहना, तुमने लोकशाही के आधार पर यह संयोजन का काम शुरू तो कर लिया लेकिन तुम साम्यवाद की तरफ चले जाओगे। वे समझते हैं कि प्लानिंग और कम्यूनिज्म करीब-करीब एक ही अर्थ में आ जाते हैं और यह हो नहीं सकता जब तक कि एकतंत्र न हो, एक पार्टी न हो, एक राज्य न हो, एक केन्द्रीय व्यवस्था न हो। संयोजन तभी हो सकता

है जब एकतंत्र हो, एक पार्टी हो, एक राज्य हो, एक केंद्रीय व्यवस्था हो। नहीं तो यह धोखा है और लोकशाही में अगर हमने संयोजन किया तो आखीर में वह हो जायगी तानाशाही। यह खयाल गलत है क्योंकि इसका मतलब होता है कि हम जनता की शक्ति पर, या जिसको विनोबा जी कहते हैं लोकशक्ति, उस पर विश्वास नहीं रखते। इसका अर्थ होता है कि हमने यह मान लिया कि जनता छोटी-छोटी इकाइयों में अपना खुद संयोजन नहीं कर सकती और सारा संयोजन एक केन्द्रीय ढंग से ही होना चाहिए।

यह सही है कि संयोजन में दिशा तो केन्द्रित होगी ही क्योंकि यदि आप चाहें कि हरेक गांव अपने-अपने ढंग से संयोजन करे, तो बड़ा मुश्किल होगा। दिशा एक हद तक भले केन्द्रित हो, लेकिन अगर किसी योजना को हम कार्यान्वित करते हैं तो वह विकेन्द्रित होनी ही चाहिए। लोकशाही में अगर हम किसी योजना को सफल बनाना चाहते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि वह योजना विकेन्द्रित हो—गांव-गांव में फैली हो; शहरों-शहरों में फैली हो, न कि दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता, बम्बई या मद्रास से चले। वह शक्य नहीं है। दस वर्षों में हमने देखा कि कितना समय बर्बाद होता है और उससे भी भयंकर परिणाम यह होता है कि गांव का आदमी अपने को असहाय महसूस करता है। वह समझता है कि संयोजन हो रहा है। कुछ ऊपर से हुक्म आयेगा, आज्ञा आयेगी, तब होगा, मेरा तो कुछ वश नहीं चलता है, मैं तो कौन चीज हूं, मेरा न कोई उसमें हिस्सा है, न कोई जिम्मेदारी है। इस तरह से आर्थिक संयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि उसका असली उद्देश्य तभी सफल होगा जब कि हरेक गांव-समूह और उसमें भी हरेक कुटुम्ब और हरेक व्यक्ति यह महसूस करे कि यह योजना मेरी है और मेरा यह कर्तव्य है कि मैं उसे अपनी ग्राम-संस्थाओं की मार्फत पूरा करूं। बिना इसके देश में जीवन संचारित नहीं हो सकता या जिसको बापू जी कहते थे 'आजादी की चिनगारी' फैल नहीं सकती।

लोग समझते हैं कि आजादी आयी है, ऊपर से योजना बन रही है, हमसे जितना कहा जायगा उतना कर देंगे। तो उसमें व्यक्ति का विकास नहीं होता, व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, और एक बड़ी मशीन का वह छोटा सा पुर्जा बन जाता है। इससे योजना कभी सफल नहीं हो सकती। इसलिए जब बापू जी का नाम लिया जाता है कि आर्थिक संयोजन के बारे में उनका क्या विचार था तो उसका अगर कोई असली मूल मंत्र है तो इतना ही कि वह कहते थे कि आर्थिक संयोजन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए व्यक्ति, ग्राम समूह या छोटा समूह। कुटुम्ब

और ग्राम समूह कहिए, शहरों में आप उसे मुहल्ला या वार्ड कहिए, उनमें जो लोग रहते हैं, जो एक दूसरे को पहचानते हैं, जिनमें पारस्परिक संबंध है वह लोग अपनी अपनी छोटी-छोटी योजनाएं बनायें फिर वह एक बड़ी योजना के रूप में राष्ट्रीय योजना बने। नौकरशाही से यह काम कभी हो नहीं सकता। नौकरशाही से कभी कोई क्रांति हो नहीं सकती। उससे मिशनरी उत्साह से काम नहीं हो सकता और यह आशा रखना भी फजूल है। यद्यपि कर्मचारी और अफसर भी अच्छे होते हैं, कई ऐसे हैं जिन्होंने बड़ा अच्छा काम किया है। वे समाज-सेवा की भावना एवं उत्साह से काम करते हैं। लेकिन उस ढांचे से यही आशा रखी जा सकती है कि हमको वे प्राविधिक पथ प्रदर्शन (टेक्नीकल गाइडेंस) या जो सहायता पहुंचानी हो समय पर उसको दे दें। लेकिन यह आशा उनसे रखना कि समाज में या देश में वे क्रान्ति ला सकेंगे या लोगों में वह एक नया जीवन ला सकेंगे, नया उत्साह ला सकेंगे, व्यर्थ होगा और उस तरह से उन पर यदि हम निर्भर रहें तो कभी काम होगा नहीं; थोड़ा बहुत काम हो जायगा लेकिन जनता नहीं बनेगी या जिसको कि आजकल कहा जाता है मनुष्य में लागत, जो हम चाहते हैं कि देश के लोगों को मनुष्य बनाने में देश की पूंजी लगे उनसे यह नहीं हो सकता। अगर यही उद्देश्य हो कि हरेक को खाना मिल जाय, कपड़ा मिल जाय, रहने के लिए मकान मिल जाय, सरकार सब कुछ बना दे, लोग कुछ टैक्स दे दें, कुछ अल्प बचत योजना में दे दें और घर बैठें रहें, तो इससे काम चल नहीं सकता। जब तक कि हर व्यक्ति को यह न लगे कि यह काम मेरा है, मैं करूंगा तब तक वह उत्साह से नहीं करता है।

तो भारतवर्ष में आर्थिक संयोजन लोकशाही के आधार पर जो हो रहा है मैं समझता हूं कि वह सही कदम है। साम्यवादी ढंग से जो आयोजन चल रहा है, उसका जो कुछ भी लाभ हो — लाभ नहीं है ऐसा मैं नहीं कहता हूं — लेकिन स्थायी ढंग से जनता को वह बना नहीं सकता। जनता में नयी क्रान्ति, नया जीवन, उसके व्यक्ति का विकास, उस योजना की मार्फत नहीं हो सकता। हमारे मन में यह डर न रहे कि हमने आर्थिक संयोजन इस देश में लोकशाही के आधार पर शुरू तो किया लेकिन एक तरफ तो डर है कि कहीं हम साम्यवादी न बन जायं और दूसरी तरफ यह डर, कि जनता के आधार पर क्या होने वाला है, जनता में इतनी योग्यता कहां है कि योजना कर सके। जनता के प्रति इस तरह का अविश्वास गलत कदम होगा। दूसरी बात जो इसके बारे में हमको समझना है वह यह है कि कुछ लोगों का ख्याल है कि लोकशाही के आधार पर अगर हम संयोजन करें तो फिर पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए, एकोनामी होनी चाहिए, मार्केट एकानामी होनी चाहिए और जिसको

अर्थशास्त्र में कहते हैं "ला आफ सप्लाई एन्ड डिमांड" यानी मांग और खपत, मतलब यह कि जो चीज़ हम लोगों को देते हैं और जो उसकी मांग है वे आपस में संतुलित हो जायंगी। बाकी राज्य को ज्यादा दखल नहीं देना चाहिए। जहां कुछ दखल दिया तो कहते हैं यह क्या आप आयोजन करते हैं, आयोजन तो ऐसा होना चाहिए कि कुछ वर्षों बाद पूरी आजादी मिल जाय और फिर आपको कोई दखल देने की जरूरत न रहे। यह भी ग़लतफ़हमी है क्योंकि लोकशाही में यह तो जरूरी नहीं होना चाहिए कि हरेक दिशा में हम व्यक्तियों को बांध लें। जैसा कि रूस में आप देखते हैं। वहां किसान को डेढ़-दो एकड़ जमीन जो दी गयी है वह तो उनके निजी खेत हैं। सिवा इसके, वहां जो सामूहिक फार्म (कलेक्टिव फार्म) हैं उसमें किसी व्यक्ति को आजादी नहीं है। पूरी योजना बनी है। मैनेजर उसको बनाते हैं। कुछ और लोग हैं जो कमेटी वगैरह में रहते हैं। लेकिन जो और हजारों लोग हैं, वे मज़दूर जैसा काम करते हैं। जो बँटवारा होता है चीजों का, चाहे वे खाने-पीने की चीजें हों, कपड़ा हो, उपभोक्ता सामग्री हो, उन सब चीज़ों का पूरा वितरण गवर्नमेंट की तरफ से होता है। किसी की कोई व्यक्तिगत दूकानें नहीं हैं। सब स्टेट——राज्य की दूकानें हैं। पूरा उत्पादन, पूरा वितरण, पूरा विनिमय, यह सभी सरकार की तरफ से होता है। उसमें कोई व्यक्तिगत व्यापार नहीं कर सकता, चाहे वह थोक हो या फुटकर हो। जितने उद्योग हैं, सिवाय कुछ सहकारी समितियों (कोआ-परेटिव इन्टरप्राइज़ेज़) को छोड़ कर उनका सारा काम सरकारी ढंग से होता है।

तो वह एक सीमा हुई कि हरेक काम सरकार ने जकड़ लिया कि बस हम ही उसे करेंगे। दूसरी एक सीमा और है कि हम यह न सोचें कि हम हिन्दुस्तान में लोकशाही की प्लानिंग कर रहे हैं लेकिन आप कंट्रोल्स कुछ न करिए। अभी कुछ कंट्रोल्स करते हैं तो बाद में वे भी हटा दीजिए ताकि आगे पूरी स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था हो जाय, हम आजाद हो जायं और मांग एवं माल की उपलब्धि की शक्तियां (Forces of Demand and Supply) जैसे मामूली ढंग से चलती हैं, वैसे चलें। मैं कहना चाहता हूं ऐसा समाज तो कहीं है ही नहीं। आप में से यदि किसी का यह ख्याल हो कि अमरीका, कनाडा, इंगलैण्ड, आस्ट्रेलिया, जापान, जर्मनी में जो पूंजीवादी देश माने जाते हैं, स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था है तो यह हमारी गलत धारणा होगी। वहां स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था नहीं है।

हाल ही में कुछ अमेरिकन अर्थशास्त्रियों ने हिन्दुस्तान के बारे में लिखा है। उनमें एक तो प्रो० गैलब्रेथ हैं। कई बार वे यहाँ आये और उन्होंने काफी लिखा। उनको हिन्दुस्तान से काफी दिलचस्पी भी है। श्री चेस्टर बोल्स ने भी जो यहां अमेरिकन

अम्बेसेडर थे, कई किताबें लिखी हैं। उन्होंने कहा है कि हमको बड़ा आश्चर्य होता है कि भारतवर्ष में समाजवाद की इतनी चर्चा तो है लेकिन सरकार की तरफ से कृषि और उद्योग में या व्यापार में उतना भी नियंत्रण नहीं है जितना कि अमरीका, युरोप और जापान में है। उदाहरण के लिए जापान को आप लीजिए। हमारे एशिया का ही यह देश है। वह पूंजीवादी देश माना जाता है। अमरीका का वहां आज भी असर है। वहां आप खाने का ही सवाल लीजिए। राजकीय व्यापार की आज बड़ी चर्चा है, इसलिए मैं आपको थोड़ी जानकारी देना चाहता था। जापान में आज खरीद का एकाधिकार (Monopoly Procurement) है; यानी वहां कोई किसान, अपने गांव के अंदर के व्यापार को छोड़ कर सरकार के सिवा और किसी के हाथ खाद्यान्न बेंच नहीं सकता। जापान में पूरी राशनिंग है। अब जब खरीद का एकाधिकार होगा, तो यह लाजमी हो जाता है कि सारा बंटवारा भी, वितरण भी सरकार की तरफ से हो। इसलिए वहां पूर्ण राशनिंग है, सिवाय उस माल के जो कि आयात का माल है। अनाज में जापान स्वावलम्बी नहीं है। उसको भी अनाज बाहर से मंगाना पड़ता है। तो जो बाहर से मंगाया गया अनाज है उसको तो बाजार में बेंचने देते हैं उसके लिए खुला बाज़ार है एक हद तक, लेकिन वहां जो अनाज पैदा होता है वह एकमात्र सरकार द्वारा किसानों से लिया जाता है और पूरी तरह से उसका वितरण सरकार की तरफ से होता है। लेकिन उसकी कुछ चर्चा नहीं है। लोग समझते हैं कि यह जरूरी है, चूंकि कमी वाला देश है, वहां अनाज की कमी है। इसलिए वह मान लेते हैं कि इतना तो जरूरी है वर्ना कैसे करेंगे, कहां से इतना आयात करते जायंगे।

हम बहुत आसानी से बाहर से माल मंगा लेते हैं। पी० एल० ४८० अमरीका का एक जादू चल गया है। हम सोचते हैं कि हमें करीब-करीब मुफ्त माल मिल जाता है। और इस प्रकार जो कर्ज होता है, जब होगा तब चुकाया जायगा। बहुत सा तो अमेरिका कुछ योजनाओं के लिए मुफ्त दे देता है। जहां दिक्कत हुई, चलो पी० एल० ४८० से अनाज मंगा लेंगे। कनाडा के प्राइम-मिनिस्टर आये थे। वे प्लानिंग कमीशन में भी आये और पूछने लगे हमसे कि आप अमरीका से गेहूं लेते हैं, हमसे क्यों नहीं लेते ? उन्होंने कहा कि आप को परेशानी है कि आपके यहां चावल और गेहूं कम होता है, हमारी परेशानी है कि हमारे पास इतना जमा हो गया है कि उसका हम क्या करें। उन्होंने यह भी कहा कि हमारी गेहूं को समस्या साल भर स्टाक करने की है। हमारे अतिरिक्त गेहूं को सिर्फ स्टोर करने में ४० करोड़ रुपया खर्च होते हैं, इसलिए वह कहने लगे कि कुछ हमारा माल

ले लिया करिए तो कुछ हमारा बोझ हलका हो। हमने उनसे कहा कि पी० एल० ४८० जैसा कुछ आप भी कर लीजिए, रुपयों में यदि आप मूल्य ले लिया करें तो हम खरीदें, डालरों में हम मूल्य कहां से दें।

यह मैं आप से इसलिए कह रहा था कि जो ये देश अमरीका, कनाडा आदि हैं अनाज के मामले में, उद्योग के मामले में वहां आज हमारे देश से ज्यादा अंकुश है। आस्ट्रेलिया को आप लीजिए। आस्ट्रेलिया में कोई आदमी सिवाय गवर्नमेंट के दूसरे किसी के हाथ गेहूं बेंच नहीं सकता। कनाडा में अपना एक निर्यात कंट्रोल बोर्ड है। अमरीका में भी वही हाल है। इन देशों में निर्यात का ही सवाल है क्योंकि अनाज खपत से अधिक रहता है। लेकिन फिर भी उन्होंने भाव का कंट्रोल कर रखा है। किस भाव पर बेंचें, यदि वाहर अनाज जाता है तो किस भाव पर जाय, उसका पूरा कंट्रोल है। कोई निजी व्यवसाय उसका नहीं है। उद्योग में भी कंट्रोल है। जिस तरह के कंट्रोल हमारे यहां हैं उस तरह के नहीं हैं, फिर भी समझा जाता है कि हमने बहुत कंट्रोल किये हैं। यदि यह खयाल किसी के मन में हो कि आर्थिक संयोजन लोकशाही में किया जाय, तो भाई कंट्रोल-त्रंट्रोल की बात न करो और करना भी है तो दो-चार साल की बात करो, बाद में स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था कर दी जाय, तो यह नहीं हो सकेगा। इसलिए मैं इसके विस्तार में थोड़ा सा जाना चाहता हूं।

आप अनाज लीजिए। राजकीय व्यवसाय क्यों शुरू किया गया। हमने यह सोचा कि कंट्रोल अगर हम सारे थोक और फुटकर व्यापार में करने लगे और एकाधिकार के ढंग से खरीद की और उत्पादन पर भी पूरा कंट्रोल किया तब तो वह अनावश्यक और असंभव होगा। लोकशाही में यह करना बड़ा मुश्किल है और उसकी आवश्यकता भी हम नहीं देखते। लेकिन जिसको कि अंग्रेजी में 'स्ट्रेटेजिक कन्ट्रोल' कहते हैं या जिसको आप हिन्दी में मार्मिक या बुनियादी अंकुश कह सकते हैं, हमने कहा कि हम ऐसे कंट्रोल थोक-व्यापार में, थोक-स्तर पर करेंगे, फुटकर में नहीं करेंगे। हम थोक-व्यापार पर अंकुश करेंगे, और दूसरी बातों में अभी हम नहीं पड़ते। कुछ लोगों का खयाल है कि जब देश में उत्पादन बढ़ जायगा तो फिर अंकुश की क्या जरूरत है? फिर भी जरूरत रहेगी, क्योंकि और देशों में जब उत्पादन बढ़ता है तो दाम गिरने लगते हैं। जब दाम गिरने लगते हैं तो उस समय आप माल राज्य की तरफ से न खरीदें तो कौन ऐसा बेवकूफ किसान होगा जो ज्यादा उत्पादन करेगा। कहेगा कि अच्छा तमाशा हुआ, कहते हैं अधिकाधिक उत्पादन करो, और उत्पादन किया तो अनाज बढ़ गया, दाम आधे रह गये। वह तो वैसा ही का वैसा रहा, फायदा क्या हुआ? दुगना उत्पादन किया, दाम आधे रह गये, वैसे का वैसा रहा। तो इस तरह

का अर्थशास्त्र नहीं चलेगा। अगर हम चाहते हैं कि देश में उत्पादन बढ़े तो हमें मूल्यों को स्थिर करना होगा। स्थिर करने का मतलब यह नहीं है कि एक हम लोहे की लकीर खींचें, लेकिन दो-तीन रुपये के फर्क से ज्यादा नहीं होना चाहिए। यह नहीं कि एक साल तो १० रु० का भाव आ गया और एक साल ३० रु० का भाव आ गया। दस का भाव आना ही गलत है, उसमें कोई खुशी नहीं होनी चाहिए क्योंकि किसान की कमर टूट जाती है और वह सोचता है कि इससे तो यही अच्छा है कि हम उत्पादन कम ही करेंगे, भाव ज्यादा रहेंगे, दाम ज्यादा रहेंगे, मुझे घर बैठे उतना ही मिल जायगा। शहरवालों का वह जानें, हमसे क्या मतलब, उसके लिए यह बड़ी गलत चीज़ होगी। किसान को, एक तरफ हम चाहते हैं, जो मूल्य मिले वह भी एक तरह से स्थिर हो और जनता को, जो किसान नहीं है, शहर में है या देहात में, जैसे बेजमीन मजदूर हैं, उन लोगों को भी अनाज ऐसे भाव में मिले कि वह उसे बर्दाश्त कर सकें। तो उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के लिए मूल्य एक खास स्तर पर रहें जो उनकी शक्ति के अनुसार हो। यही उद्देश्य आर्थिक संयोजन का हो सकता है।

अगर उत्पादन बढ़ेगा, तब भी राज्य की तरफ से व्यापार की जरूरत रहेगी। नहीं तो जो सन् ५३ में हाल हुआ, वही हो जायगा। इस साल फसल अच्छी है, उसके बाद मान लीजिए ईश्वर की कृपा से फसल और अच्छी हो जाय। यह कोई बुरी बात नहीं होगी। लेकिन अगर राजकीय व्यापार व्यवस्था की मशीनरी हमने हटा ली और दाम गिरना शुरू हुआ और किसान बेचारा हाहाकार करने लगा, तो फिर क्या करेंगे आप। यह मशीनरी ऐसी तो नहीं है कि एक बार आप वापस ले लें फिर आप चाहें तो फिर लागू करें; जब तक लागू करेंगे तब तक तो वह लुट गया बेचारा। फिर आप देखते रहिए। तो राजकीय व्यापार व्यवस्था थोक स्तर पर इसलिए स्थायी रूप से जरूरी है। आज भी रहेगी—दस बीस साल के बाद भी रहेगी क्योंकि हमको मूल्यों को स्थिर करना है। उसे न एक हद या मर्यादा से ज्यादा नीचे गिरने देना है और न उससे ऊपर जाने देना है। जब फसल अच्छी हो, दाम गिरने लगें, तो गवर्नमेंट खरीद ले थोक ढंग मे। जब दाम किसी साल बढ़ने लगे—चूंकि यह सत्य है कि वर्षा के ऊपर तो खेती निर्भर है ही आज, बहुत वर्षों तक उसका कोई इलाज नहीं है—तब सरकार अपने गोदामों का माल बाजार में फेंक दे ताकि भाव नीचे आ जायं। यह सारे राजकीय व्यापार व्यवस्था की पूरी कल्पना है। यदि हम सचमुच चाहते हैं कि भाव स्थिर रहें, तो राजकीय व्यापार व्यवस्था को जारी रखना होगा। एक स्थायी मशीनरी माननी होगी। यह मानना कि पांच-सात साल बाद सब कंट्रोल

हट जायं और बिल्कुल स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था हो जाय, गलत होगा। वह न आज किसी पूंजीपति देश में है और न यहां हो सकेगी। अगर आप उसे करेंगे तो जो किसान है वह आपका साथ नहीं देगा। वह कहेगा कि मेरा भला इसी में है कि दाम नीचे न गिरें, उत्पादन मेरा न बढ़े, मेरे दाम बिना ज्यादा मेहनत के मुझे मिलते जायं। शहरों का जो कुछ होगा, होगा। यह उसकी मनोवृत्ति बढ़ेगी और आप उसे उस काम के लिए दोष नहीं दे सकते।

खेती के बारे में एक बात मैं कह दूं जो ज़रा दिलचस्प है। हजारों वर्ष बाद आज हम अपने देश में देखते हैं और समझते हैं कि हमने बड़ा भारी काम किया है, विदेशों से बहुत सीखा है। अमरीकन और रूसी विशेषज्ञ बुलाये और तमाम सामुदायिक योजनाओं का काम किया। लेकिन हजारों वर्ष पहले इस देश में कृषि का एक आर्थिक संयोजन था जो आज हमारे पास नहीं है। मुझे महाभारत में यह पढ़ कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस जमाने में किस तरह उन्होंने खेती का संयोजन किया था। आप देखेंगे और मैं आपसे कहता हूँ कि आप उस अध्याय को जरूर पढ़ें। वह युधिष्ठिर और नारद का एक संवाद है। नारद जी युधिष्ठिर के दरबार में जाते हैं और सौ सवाल पूँछते हैं। कृषि के बारे में तीन सवाल पूँछते हैं। कितने मार्मिक सवाल पूंछते हैं वे। आप देखिए, पहला प्रश्न जो वह पूँछते हैं, यह है, कि राजन्, आपके राज्य में कहीं खेती वर्षा पर तो निर्भर नहीं रहती? जब मैंने पढ़ा तो हैरान हुआ कि क्या बात पूँछते हैं? यह कब की बात है? हम तो आज कहते हैं कि पता नहीं कब हम वर्षा पर निर्भर न रहेंगे। इतनी सिंचाई हो जाय देश में, हरेक किसान हरेक खेत की सिंचाई अपने आधार पर करे, वर्षा पर निर्भर न रहे। तो पहला प्रश्न वह पूंछते हैं कि कहीं खेती आपके राज्य में वर्षा पर तो निर्भर नहीं है? फिर दूसरा सवाल पूँछते हैं कि आपके यहां क्या हर गांव में तालाब हैं? अब देखिए उस वक्त कितनी व्यवस्था उन्होंने कर रखी थी। हर गांव में वह कहते हैं कि तालाब है, सरोवर हैं गांव के? फिर तीसरा सवाल पूँछते हैं कि उस सरोवर की क्या हर वर्ष मरम्मत होती है? आप देखिए कि इन तीन प्रश्नों में उनकी कृषि का सारा आयोजन आ गया। उस वक्त गांव-गांव में उन्होंने कितने तालाब खुदवाये थे, जिनसे सिंचाई होती थी, जिनकी मरम्मत होती थी पंचायत की तरफ से, ग्राम-समूह की तरफ से और वे वर्षा पर खेती को उस समय निर्भर नहीं रखना चाहते थे।

लेकिन आज हजारों वर्ष के बाद, सारी योजना के बाद हमारी हालत वैसी ही है। कारण यह था कि उन्होंने उस समय सारा काम विकेन्द्रित किया था। विकेन्द्रीकरण इस तरह से किया था कि कोई राज्य आये-जाये, कुछ हो, लेकिन

गांव का काम बिगड़ता नहीं था। अब आज हमारी बड़ी-बड़ी योजनाएं हैं तो ठीक, भाखड़ा नंगल भी ठीक है, हीराकुड भी ठीक है, दामोदर-घाटी भी ठीक है, लेकिन अगर गड़बड़ कुछ हो जाय, जैसे अभी भाखड़ा नंगल में कुछ गड़बड़ हो गयी, तो हाय-तोबा मच गया। सब परेशान हो गये। एक दिन तो यह परेशानी सारे पंजाब को थी कि कहीं यह बांध ही तो नहीं फूट गया। बांध अगर फूट जाय तो हजारों गांव वहां बह जायँ। क्या परेशानी हो? और मान लीजिए, अगर लड़ाई हो जाय और एक बम वहां गिर जाय तो डेढ़, पौने-दो सौ करोड़ रुपये पानी में चले जायंगे, साथ ही सारा पंजाब बर्बाद हो जायगा। क्योंकि वह एक केन्द्रित चीज हो गयी। वहां पता ही नहीं लगता। कल मैंने वहां के एक इंजीनियर से पूंछा। भाखड़ा बोर्ड के सब बड़े-बड़े इंजीनियर आये थे कि भाई साहब, हो क्या गया यहाँ? बताइये आप, अब तो इतने दिन हो गये। तो कहते हैं कि हम अंदाज लगा सकते हैं, कुछ पता नहीं क्या हो गया। अभी तक वह कहते हैं कि दो-तीन महीने बाद पता लगेगा कि क्या अंदर हो गया। कितनी जटिल चीज बन जाती है। लेकिन पुराने जमाने में उन्होंने इतनी विकेन्द्रित व्यवस्था कर दी थी कि गांव-गांव में हरेक में आत्म-निर्भरता थी। वह जानते थे और उनमें आत्म-विश्वास था कि हमारा काम नहीं बिगड़ेगा। हमारा काम है, हम अपना इतना क्षेत्र देख लेंगे और दूसरे अपना-अपना देखते हैं। उस तरह से आज हम अब तीसरी योजना में सोच रहे हैं कि भाई यह तरीका ठीक है। अब पंडित जी भी कहते हैं कि भाई, बड़ी स्कीम की बात न करो। उनके सामने अगर अब कोई बड़ी स्कीम आती है तो चिढ़ जाते हैं। कहते हैं, छोटी स्कीम की बात करो, गांव-गांव में जितनी सिंचाई की योजना हो वह करो, गांव-गांव में छोटे-छोटे उद्योग फैलाओ, बड़े उद्योग नहीं। यह भी सोचा जा रहा है कि रासायनिक खाद के कारखाने छोटे-छोटे कैसे बनें, बिजलीघर छोटे-छोटे, जैसे जापान में हैं, कैसे बनें?—एक पहाड़ है, उसके एक छोटे से प्रपात से बिजली जापानियों ने निकाल ली। इस तरह की विकेन्द्रित व्यवस्था हम कैसे करें? इस वक्त योजना आयोग का ध्यान इसी ओर जा रहा है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में ज्यादा से ज्यादा विकेन्द्रीकरण कैसे करें? इसलिए नहीं कि गांधी जी का नाम याद आ गया। लेकिन यह सब दस साल के अनुभव के बाद हमने देखा कि भाई, बड़ी योजना बनाने में खर्च भी बहुत होता है, खतरा भी बड़ा है क्योंकि जितना खर्च होता है उसके हिसाब से फायदा मिलने में समय बहुत लग जाता है। एक योजना में पांच-सात साल लग जाते हैं। तब तक खर्च ही खर्च है, फायदा कुछ नहीं। अगर आप एक तालाब खोदते हैं, एक कुआं खोदते हैं, उसका कल ही आपको फायदा

मिल जाता है। तो सब दिशाओं से यही लगता है कि जो आर्थिक आयोजना लोकशाही के आधार पर हमारे देश में हजारों वर्ष पहले थी, वह एक सही तरीका था।

लोकशाही में कंट्रोल का क्या स्थान है, यह जरा मैंने इसलिए इतने विस्तार से कहा कि इन बातों में काफी गलतफहमियां होती हैं। वे जब तक दूर न हों तब तक हम सही दिशा में कदम भी नहीं उठा पाते और जनता का पूरा सहयोग भी नहीं मिलता है। इसलिए खासतौर से आप, जो विधान सभा के सदस्य हैं, स्वयं समझ कर जनता में अगर ये विचार फैलायें, तो सहज में वे उसकी समझ में आ सकते हैं। जनता अपढ़ भले हो, बेवकूफ नहीं है। मेरा कभी यह खयाल नहीं हुआ कि हिन्दुस्तान में जनता अपढ़ है, मूढ़ है, क्या होगा? मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ, बहुत से देशों में घूम कर मैंने देखा है कि हिन्दुस्तान की जनता जितनी समझदार है, उतनी बहुत कम देशों में आप पायेंगे। अगर ठीक तरह से समझा दिया जाय तो ये विचार भलीभांति उसकी समझ में आ सकते हैं।

एक और चीज के बारे में मैं कहना चाहता था कि योजना के बहुत से उद्देश्य हैं। मैं सब उद्देश्यों में नहीं जाना चाहता। दो बातें और हैं जो मैं पांच-सात मिनट में पूरी करूंगा। एक तो यह कि उत्पादन और रोजगार संयोजन के ये दो पहिये हैं। अगर सिर्फ उत्पादन बढ़ाने में हम लग जायं और लोगों को रोजगार न दे सकें तो एक पहिये की गाड़ी नहीं चलेगी। लोगों में बहुत असंतोष पैदा होता है, जैसे कि लोग कहते हैं कि भाई, काम तो मिलना नहीं है, आप उत्पादन की बातें करते हैं। उत्पादन बहुत हुआ लेकिन काम न हुआ तो उससे क्या फायदा हुआ? दूसरी तरफ अगर हम काम ही काम लोगों को दें, उत्पादक काम न दें, और काम ऐसा दें कि सड़क खोदो, गिट्टी तोड़ो, तो उत्पादन नहीं बढ़ेगा। अगर उत्पादन नहीं बढ़ेगा और लोगों को मजदूरी बांट दी तो वे खायेंगे क्या? पहनेंगे क्या? तो ये दो चीजें अक्सर हम भूल जाते हैं। कभी-कभी हम उत्पादन पर ही ज़ोर देते हैं और कभी रोजगार पर बड़ा जोर देते हैं कि सब को काम दे दीजिए, चाहे उत्पादन हो या न हो। इसलिए आर्थिक संयोजन में यह बिल्कुल आवश्यक है कि उत्पादन और रोजगार ये दोनों साथ-साथ चलने चाहिए।

तीसरी योजना में यह खास विचार करना होगा कि कम से कम डेढ़ या दो करोड़ लोगों को हम काम कैसे दें? कारण यह है कि आबादी तो बढ़ती ही जाती है, पहले १। फी सदी का ख्याल था, अब १।।। या २ फी सदी का हो गया है। कितना ही परिवार नियोजन करिए, कोई खास असर तो होने वाला है नहीं। अगर कुछ

प्रभाव होगा भी तो चौथी या पांचवीं योजना में होगा। इसलिए सवाल यह है कि किस तरह से लोगों को काम दें। और उत्पादन भी बढ़ायें। यह तभी हो सकता है जब गांव-गांव में छोटे उद्योग-धंधों का हम एक जाल बिछा दें, खेती के साथ-साथ छोटे-छोटे उद्योग-धंधे फैला दें। गांधी जी से कोई प्रेम बढ़ गया है, ऐसी बात नहीं है। लेकिन अनुभव से देखा कि अगर हम काम नहीं देंगे तो लोग बलवा करेंगे। यह हो नहीं सकता कि आप कहें कि भाई क्या करें हम अभी काम नहीं दे सकते जब होगा तब देंगे। तो मैं कहूंगा कि आप या तो काम दीजिए या लोगों को कुछ भत्ता दीजिए, जैसा और देशों में किया जाता है। यह तो हम नहीं कह सकते। आप जानते हैं, अमरीका में करीब-करीब ४०-५० लाख आदमी बेकार हैं। हम समझते हैं अमरीका में सब को काम है, ऐसा नहीं है। वहां ४०-५० लाख आदमी आज भी बेकार हैं लेकिन हरेक आदमी को हजार रु० महीने मिलता है। रजिस्टर करा लीजिए अपना नाम, ढाई सौ तीन सौ डालर महीने मिल जाता है। हजार रुपये हो गये । यह तो हिन्दुस्तान में हम कर नहीं सकते। भारतवर्ष में सवाल यह है कि हम काम भी दें और उत्पादन भी हो। सिवाय छोटे उद्योगों के, जो खेती के साथ जुड़े हुए हों, इसका कोई इलाज नहीं है। यह बिलकुल एक सीधे हिसाब की बात है, इसमें न कोई दर्शन है और न गांधी जी का नाम लेने की बात है। इसका कोई और इलाज है ही नहीं।

तीसरी बात यह है कि संयोजन में स्वावलंबन की बात सोचनी ही पड़ेगी। आज कल यह चल गया है कि निर्यात करो। बाहर देशों को माल भेजो, आयात कुछ न करेंगे, विदेशी मुद्रा कमाओ और उससे अपने उद्योगों को बढ़ाओ। अगर हम इस बात को पचास साल पहले सोचते तो यह अलग बात थी। आज तो कौन ऐसा बेवकूफ देश है जो आपकी चीजों को खरीदेगा, उनका आयात करेगा। वह भी चाहता है कि हम अपने माल का निर्यात करें। हरेक देश कहता है कि निर्यात करो, लेकिन यह हो तो नहीं सकता। इतना हम कर लें कि चौथी योजना में बाहर के देशों का हमें मुंह न ताकना पड़े। लोहे के कारखाने, कुछ रासायनिक कारखाने, बिजली-उत्पादन के कारखाने, उर्वरकों के कारखाने यानी औद्योगिक एवं कृषि के क्षेत्र में जितने उद्योग आत्मनिर्भर बनने के लिए आवश्यक हों, उतना स्वावलंबन हम तृतीय योजना में कर लेना चाहते हैं। अखबारों में आपने देखा होगा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की प्लानिंग कमेटी ने कहा है कि हम तीसरी योजना में कुछ भारी उद्योगों पर जोर देना चाहते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि भारी उद्योग ही होंगे। सब से ज्यादा जोर तो कृषि और छोटे उद्योगों पर

होगा। लेकिन बड़े उद्योग इतने हम जरूर चाहते हैं कि पांच वर्ष के बाद अमरीका और युरोप का मुंह न ताकना पड़े, कि यदि कोई बड़ा उद्योग स्थापित करना हो तो सब मशीनें वहां से मंगानी पड़ें। इसलिए हम यह चाहते हैं कि उद्योगीकरण के लिए हम जितने आत्मनिर्भर हो सकें, हो जायं और मशीन बनाने की कुछ मशीनें हम खड़ी कर सकें। छोटी-बड़ी मशीनें बनाने वाला उद्योग स्थापित कर लें, ताकि फिर बाहर से मशीनें न मंगानी पड़े। बहुत से देश ऐसे हैं जो सिर्फ एक बार बाहर के कारखाना मंगाते हैं, दुबारा नहीं मंगाते। यहां तो न मालूम कितने उद्योगों में कारखाने मंगाते ही चले जाते हैं। काटन और शुगर मिलों के कितने वर्षों से देश में कारखाने स्थापित हैं लेकिन वे मशीनें बाहर से मंगाते ही चले जाते हैं। विदेशों में, जर्मनी में, जापान में अगर एक प्लांट बाहर से आ गया तो दुबारा उसका आयात नहीं होगा। वहां वे अपने लोगों को इतना ट्रेन्ड या प्रशिक्षित कर लेते हैं कि एक-एक पुर्जा स्वयं बना लेते हैं। इस तरह का आयोजन भी करना होगा।

ये चार बातें आपसे मैंने कहीं—पहली बात यह है कि लोकशाही के आधार पर विकेन्द्रित व्यवस्था हो, दूसरे लोगों को काम या रोजगार मिले, तीसरे उत्पादन बढ़े और चौथे यह कि देश में आत्म-निर्भरता हो।

पांचवां सवाल यह है कि आर्थिक विषमता घटे। आर्थिक संयोजन आप करें, लोगों को काम भी दे दें, उत्पादन भी बढ़ायें, लेकिन अमीर-अमीर होते चले जायं, गरीब-गरीब रह जायं, तो फिर योजना कुछ नहीं। इसलिए पांचवां मूल सिद्धान्त यह है कि आर्थिक विषमता घटे। वह तभी घट सकती है जब निम्नस्तर को हम पहले उठायें। आज क्या होता है? अगर हम यह कहें कि हमारी राष्ट्रीय औसत आमदनी मोटे तौर पर ३०० रु० मानी जाती है, इसे प्रति व्यक्ति औसत आय कहते हैं, तो उसका कुछ अर्थ नहीं है। आपकी प्रति व्यक्ति औसत आय बढ़ती चली जा सकती है। लेकिन गरीब और गरीब हो सकता है, अमीर और अमीर हो सकता है, क्योंकि अगर करोड़पति बहुत से बढ़ गये, गरीब और गरीब हो गया तो औसत तो बढ़ जायगा। उसका कोई अर्थ नहीं है। अतः अब हम तीसरी योजना में यह कोशिश कर रहे हैं कि एक राष्ट्रीय न्यूनतम आमदनी हम निर्धारित करें कि इतनी आमदनी हरेक की होनी ही चाहिए, वह ३०० रु० नहीं होगी, वह २०० रु० हो, १५० रु० हो। लेकिन इससे किसी को कम आमदनी न हो। अगर इससे कम हुई तो आंकड़ा हम चाहे जो आपको बतला दें कि तीसरी योजना के आखीर में प्रति व्यक्ति औसत आय हमारी ३५० रु० या ४०० रु० हो

गयी—मेरी दृष्टि में इसका कोई अर्थ नहीं। वह तो ऐसा है कि नदी पार करने चले, उन्होंने कहा कि, पार कर लेंगें, नाव की जरूरत नहीं है, दस फुट गहरा है बीच में, और किनारे तीन फुट गहरा है, बीच में दस फुट और किनारे तीन फुट ही है तो बस पार हो जायंगे। छः फुट के तो हैं ही हम, लेकिन डूब गये। ऐसे ही हम डूब जायं क्योंकि एक तरफ से तो समझते रहे कि रहन-सहन के स्तर का औसत हमारा बढ़ गया लेकिन दूसरी तरफ गरीब जनता तो डूब जायगी। आर्थिक विषमता दूर करने के बहुत से तरीके हैं, उनमें मैं नहीं जाता हूं, लेकिन ये पांच सिद्धांत मैंने आपके सामने रखे।

अब आखिरी बात एक और कहूं कि यह सारा आर्थिक आयोजन अगर सिर्फ भौतिक स्तर पर चला तो इससे देश का कोई संतोष होने वाला नहीं है। आखिर अमरीका की औसत आमदनी १०,००० रु० है, हमारी ३०० रु० है। आप समझते हैं क्या उस स्तर पर हम कभी पहुंच सकेंगे। इस जिन्दगी में तो पहुंचने वाले हैं नहीं। और जब तक आप वहां तक पहुंचेंगे तब तक क्या पता वह आसमान में उड़ जायं। प्रश्न यह है कि आर्थिक संयोजन किस हद तक भौतिक हो? क्या यही स्तर हम अपने यहां सोचें कि एक आदमी की औसत आमदनी हजार, दस हज़ार, करोड़, दस करोड़, अरब होती चली जाय, उसमें उसको सुख मिलने वाला है या भौतिक उत्थान के साथ-साथ कोई और भी चीज़ है?

गांधी जी दो वाक्यांश इस्तेमाल करते थे—एक भौतिक स्तर (स्टैंडर्ड आफ लिविंग) और दूसरा जीवन स्तर (स्टैंडर्ड आफ लाइफ) इन दोनों में जमीन-आसमान का फर्क है। आपका भौतिक स्तर ऊंचा हो सकता है, जीवन स्तर बहुत नीचा हो सकता है। विनोबा जी मजाक में मुझसे एक दिन कह रहे थे कि मुझसे ज्यादा क्या किसी का जीवन-स्तर है? मैं सोचने लगा क्या बात कहते हैं। कहने लगे, देखो मेरे पास ४५ लाख एकड़ तो ज़मीन है, भूदान में मुझे यह जमीन मिली है। क्या मुझसे कोई जमींदार बड़ा है? खैर, वह तो एक मजाक हुआ। फिर कहने लगे कि मैं रोज एक घर बदलता हूं, क्योंकि रोज पद-यात्रा करता हूं, जहां जाता हूं एक नये मकान में रहता हूं। हैं किसी के पास इतने मकान, जो एक नया मकान रोज बलदता हो? फिर उन्होंने कहा कि खुली हवा में रहता हूं, आसमान के नीचे सोता हूं, मुझे कोई आमदनी की चिंता नहीं। मेरा बैंक-का हिसाब (बैंक-बैलेंस) कितना है? जहां जाता हूं लोग इंतजाम कर देते हैं और खाने कमाने की मुझे कोई परेशानी नहीं है। काम सुबह से शाम तक करता हूं, मन प्रफल्लित रहता है। फिर उन्होंने कहा कि "मैं एक शहर में गया, वहाँ एक

जमींदार ने कुछ जमीन दी थी, वे मेरे पास आये और कहा कि आप मेरे घर चलिए। मैं उनके घर गया। घर गये तो अंधेरा सा था। काफी बड़ा मकान था, खिड़की दरवाजे कम थे। उसमें उन्होंने सूर्योदय का एक बड़ा सुन्दर चित्र लगाया था। मैंने उनसे पूछा, "भाई, सूर्योदय का चित्र लगाने की क्या जरूरत है? खुली हवा में रहो, सूर्योदय रोज क्यों नहीं देखते। एक शहर के बड़े मकान से जहां खिड़की दरवाजे कम और दिन में भी लाइट जलानी पड़ती है सूर्योदय का चित्र रखने के लिए आपने १००) खर्च कर दिये तो आप एक अच्छे गांव में क्यों नहीं रहते, जहां रोज सूर्यास्त भी देखिए और सूर्योदय भी देखिए।"

एक विनोद की बात है, लेकिन सोचना चाहिए कि क्या भारतवर्ष में केवल हम भौतिक स्तर बढ़ाने में ही लगे रहेंगे, क्या वही एक हमारा अंतिम ध्येय है, या जीवन स्तर बनाने की बात हम करेंगे जिसमें कि भौतिक मूल्यों के अलावा और भी कई मूल्य हैं, उसको आप सांस्कृतिक कहिए, नैतिक कहिए, आध्यात्मिक कहिए, कोई भी शब्द आप इस्तेमाल करें; लेकिन हमको समझना चाहिए कि अपने देश में हमको जीवन स्तर ऊंचा उठाना होगा। सिर्फ भौतिक स्तर ऊपर उठाने की कल्पना हम करते रहे तो कभी भी हम किसी देश से आगे नहीं बढ़ पायेंगे, पीछे ही रहने वाले हैं, और कभी संतोष नहीं होगा। आर्थिक दृष्टि से ही आप अगर लें तो अर्थशास्त्र के अनुसार भी आप देखेंगे कि जितना आदमी के पास धन बढ़ता जाता है उसका फी रुपया मूल्य घटता जाता है। यह एक मोटी सी बात है। एक करोड़पति है उसका जीवन कोई सुखी नहीं होता लेकिन यह उनसे हम कहें तो कहते हैं कि आप धर्म की बात करने लगे। यह अर्थशास्त्र है। अर्थशास्त्र के अनुसार भी एक आदमी के पास करोड़ों रुपया होने पर धन का सदुपयोग नहीं है। न करोड़पति को कोई लाभ मिलता है और न उसको मानसिक संतोष होता है और न और लोगों में उसका वितरण होता है। इसलिए कई दृष्टियों से हमें यह भी सोचना पड़ेगा कि अपने देश में और अन्य देशों में भी जो आर्थिक संयोजन है वह जीवन स्तर को ऊंचा उठाने वाला हो, सिर्फ भौतिक सुख देने वाला ही न हो। इसका मतलब यह नहीं है कि लंगोटी लगा कर रहा जाय। सन् १९४४ में जब "गांधियन प्लान" लिखा उस समय गांधी जी से मैंने पूछा कि जो "बाम्बे प्लान" का स्टैंडर्ड है उससे नीचा रखूं, क्या करूं? क्योंकि उन्होंने ३० गज कपड़ा रखा था, १०० वर्ग फुट रहने की जगह रखी थी, संतुलित खुराक रखी थी। तो बापू जी ने जवाब दिया, 'नहीं, रत्ती भर भी कम नहीं चाहता हूं। लेकिन शर्त्त यह है कि हरेक को तुम दे सकोगे क्या? यह नहीं कि एक स्तर कर लो और मुझे दिखला

दो, जो नंगा है, वह नंगा ही रह जाय और जो अमीर आदमी है वह तमाम कपड़े में लिपट जायं। ऐसा नहीं। हरेक को तुम दे सकते हो क्या? अगर हरेक को दे सकते हो तो कोई हर्ज नहीं है। जितनी जरूरत हो अपना रखें। इसका मतलब यह नहीं है कि 'लढ़िया-अर्थ-व्यवस्था' (Bullock Cart Economy) या लोग मजाक में जिसे कहते हैं, लंगोटी अर्थ-व्यवस्था क्या उसे चाहते हैं हम? ऐसी बात नहीं है, लेकिन हम एक ऐसा स्तर, जिससे कि आगे बढ़ने से फी रुपये का मूल्य घटने लगता है, उस स्तर के ऊपर जाने से कोई मतलब नहीं है, क्योंकि वह धन का एक दुरुपयोग माना जाता है। यह आखिरी बात मैं आपसे कहना चाहता था। यह आर्थिक संयोजन बड़े महत्व की बात है कि जीवन-स्तर पर आने की तरफ हम ख्याल करें, भौतिक मूल्य बढ़ाने के पीछे न पड़ें।

ये कुछ मोटी-मोटी बातें, जो मेरे खयाल में थीं आपके सामने पेश कीं। आपका काफी समय लिया, लेकिन मैं आशा करता हूं कि यह जो व्याख्यान-माला आपने शुरू की है उससे कुछ विचार बढ़ेगा, चिन्तन होगा और इस देश में हम इस तरह का आयोजन कर सकेंगे जो कि सिर्फ इस देश के लिए ही अच्छा नहीं होगा बल्कि और देशों को भी इससे लाभ हो सकेगा।

श्री जयप्रकाश नारायण

विकेन्द्रीकरण

बाबू सम्पूर्णानन्द जी और मित्रो,

पंत-व्याख्यान-माला के संचालकों का मैं बड़ा आभारी हूं कि उन्होंने इस पहले वर्ष में भी मेरा स्मरण किया और मुझे इस व्याख्यान-माला में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। मैं आप सबको हृदय से धन्यवाद देता हूं और आप सबके साथ माननीय पंत जी के चिरायु होने का भगवान से निवेदन करता हूं।

विकेन्द्रीकरण का विषय हममें से किसी के लिए कोई नया विषय नहीं है। बहुत दिनों से हम सभी, जिन्होंने गांधी जी से कुछ सीखा है, विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में कुछ सोचते, कुछ कहते रहे हैं। स्वराज्य के बाद एक अवसर आया था और आज भी वह अवसर है। अभी वह बीत नहीं गया है। वह हमें प्रेरित कर रहा है कि हम इस विषय पर कुछ ज्यादा गहराई से और कुछ आयोजित ढंग से विचार करें। अभी तक, मेरा ख्याल है, ऐसा नहीं हुआ है। जो थोड़ा सा समय आज है उतने में मेरे लिए संभव नहीं होगा कि इस सम्बन्ध में जितनी बातें आपके सामने कहनी चाहिए सब कह सकूं, पूरा चित्र, जैसा बाबू जी ने कहा, विकेन्द्रित भारत का या समाज का आपके सामने पेश कर सकूं।

पहली बात आपसे यह कहना चाहता हूं कि विकेन्द्रीकरण एक साधन है, कोई साध्य नहीं। जो हमारे लक्ष्य हैं उन तक पहुंचने का अगर कोई दूसरा मार्ग हो, विकेन्द्रीकरण के मार्ग को छोड़ कर, तो हमने कोई कसम नहीं खायी है कि विके-न्द्रीकरण के ही रास्ते पर हम चलेंगे। हमारे लक्ष्य क्या हैं? मैं समझता हूं कि लक्ष्यों के सम्बन्ध में विशेष मतभेद भारतीयों में नहीं होगा। यों तो अगर दूसरे देशों को भी हम ध्यान में रखें तो काफी ऐसे विचार हमें युरोप में, अमेरिका में और अन्य देशों में मिलते हैं जिन्हें आज अगर पूरे-पूरे विकेन्द्रीकरण के विचार जैसे न भी कहें फिर भी वे बहुत हद तक उनके निकट आते हैं।

हम सब यह चाहते हैं कि अपने देश में एक ऐसा समाज बने जो मुक्त समाज हो, ऐसा समाज बने जिसमें अधिक से अधिक सत्ता, समाज की व्यवस्था आदि, लोगों के हाथों में हो, जनता के हाथों में हो। एक ऐसा समाज हो जिसमें अधिक से अधिक परस्पर सहयोग हो। एक ऐसा समाज हो जिसमें हर मनुष्य को, हर व्यक्ति को

अपने पूरे विकास के लिए जगह हो, उसको मदद मिलती हो। इस प्रकार से हमारे सामने जो लक्ष्य हैं उनका हम वर्णन कर सकते हैं। आप देखेंगे कि इसमें कहीं कोई बात ऐसी नहीं है जिसके सम्बन्ध में कोई मतभेद हो। परन्तु आप सब देख रहे होंगे कि जिस तरह से समाज का विकास हो रहा है और जो नयी समाज-रचना चारों तरफ हो रही है वह ऐसी रचना नहीं है जिसमें कि यह सब लक्ष्य आसानी से प्राप्त हो सकें, बल्कि यह सभी बहुत खतरे में पड़े हुए हैं, ऐसा दीखता है।

आज जितने प्रकार के समाज आपके सामने हैं उनमें परस्पर भिन्नताएं हो सकती हैं, और हैं, परन्तु जिनको ऐसे समाज हम कहेंगे जो आगे बढ़े हुए हैं, उन्नत समाज हैं, प्रगतिशील हैं, उन समाजों में चाहे वहां अर्थ की पूंजीवादी व्यवस्था हो, चाहे वहां संसदीय लोकतंत्र हो, चाहे समाजवादी व्यवस्था हो, मंगलकारी राज्य की स्थापना हुई हो, चाहे साम्यवादी व्यवस्था हो, साम्यवादी पक्ष के हाथों में सत्ता हो, हर जगह हम देखते हैं कि आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में और इनके चलते दूसरे क्षेत्रों में भी केन्द्रीकरण हुआ है और होता जा रहा है। यानी इस प्रकार से समाज का काम चल रहा है, इस प्रकार की रचना हुई है, समाज के ऐसे संस्थान कायम हुए हैं, समाज की ऐसी प्रक्रियाएं चल रही हैं, जिनके चलते दिन पर दिन, कम से कम, थोड़े से थोड़े लोगों के हाथों में फैसला करने के अवसर केन्द्रित होते जा रहे हैं। यों तो जहां लोकतन्त्र हैं, नागरिक आज़ादी है, वहां लोगों को यह भ्रम होता है कि हर व्यक्ति को आजादी है, जो अपने लिए फैसला वह कर सके, कर सकता है चाहे काम के बारे में हो, चाहे खरीदारी के बारे में हो। साबुन खरीदना हो, तेल खरीदना हो और कुछ करना हो, मनोरंजन के लिए कहीं जाना हो तो वह समझता है कि हमें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य है, कोई हमें मजबूर नहीं कर रहा है कि हम इसी तरह का सामान खरीदेंगे, या अमुक जगह ही हम काम करेंगे या फलां सिनेमा में फलां खेल ही देखेंगे। हमें कोई मजबूर नहीं करता है। उसको स्वातंत्र्य हैं। इस तरह से समाज का संगठन हो गया है कि ऊपर से दिखायी देता है कि आजादी है परन्तु वास्तव में जिनको लोगों ने 'Hidden Persuasion' कहा है, छुपे हुए लोग हैं, जो हमारे मानस के ऊपर बराबर असर डालते रहते हैं कि एक दिशा में हम जायँ, एक ढंग का काम करें, एक प्रकार की वस्तुएं खरीदें; बराबर यह करते रहते हैं। इन लोगों ने इतना प्रभाव डाला है कि वास्तव में वह स्वातंत्र्य रहा नहीं। मजदूर है, काम करने जाता है, कोई भी काम करने वाला व्यक्ति है, वह चाहता है कि काम करते हुए वह कुछ इस ढंग से काम करे कि उसे

कुछ ऐसा लगे कि मैं स्वतंत्र रूप से कुछ बना रहा हूं, कर रहा हूँ और कुछ आनन्द की भी थोड़ी सी अनुभूति हो। यह वह चाहता है लेकिन वह जहां काम करने जाता है, वहां उसको कोई भी आजादी नहीं है, कोई मौका नहीं है। एक तरह से लोहे की एक मशीन चल रही है, तो वह भी मशीन का एक पुर्जा बन जाता है, यंत्रवत वहां खड़े होकर कुछ यांत्रिक काम वह करता रहता है। समाज इतना अति-संगठित और अति-केन्द्रित हो गया है कि चाहे राजनीति का काम हो, चाहे आर्थिक मामले हों, जो साधारण लोग हैं वे इन पेचीदगियों को समझ भी नहीं सकते और मजबूर होकर उनको फैसले दूसरों के हाथों में छोड़ देने होते हैं। जैसा मैंने कहा, सब तरफ जहां कि समाज का विकास हुआ है और समाज आगे गया है, ऐसा माना जाता है। चाहे वहां की व्यवस्था किसी भी प्रकार की रही हो, यह हाल हम हर जगह देखते हैं।

एक वक्त था जब समाजवादी लोग ऐसा समझते थे कि ये सब दोष जो हम पाते हैं पूंजीवाद के कारण हैं, और जब समाजवाद होगा तो तरह-तरह के सुधार किये जायंगे, कारखाने में भी रेडियो वगैरह बजेगा, कुछ संगीत होगा। जहां वे काम करते हैं वहां वातावरण उनके अनुकूल होगा—ठंडा या गरम, जहां जैसी आवश्यकता हो, ताकि कुछ आसानी काम करने वालों के जीवन के लिए पैदा कर दी जाय। राज्य की तरफ से और भी तरह-तरह के उनके हित के लिए, वेलफेयर के लिए काम होंगे। वह सब तो हुआ है, बहुत कुछ हुआ है, खासकर के युरोप के पश्चिमोत्तर देशों में मंगलकारी राज्य का विकास हुआ है। साथ ही 'ओल्ड एज पेन्शन' भी हो, बेकारी की समस्या हल हो, जो विषमता बहुत ज्यादा थी वह भी बंटे और मजदूरों का भी कुछ हाथ उद्योगों के, व्यवसायों के प्रबन्ध में हो। यह सारा काम तो हुआ है लेकिन बावजूद इसके जो बुनियादी सवाल थे, समस्याएं थीं, उनका कोई समाधान नहीं हो पाया है, यानी फैसले थोड़े ही लोग करते हैं और जो साधारण जनता है वह समाज के कामों में दूसरे जो निर्धारित करते हैं उस ढंग से ही वह पार्ट अदा करती है यानी जनता का अपना निर्णय नहीं है। दूसरे लोगों की तरफ से जो नागरिक के लिए पहले से ही तय हो गया वही होता है। उसमें कहीं न कहीं वह अपने को फिट करता है। स्वतंत्र रूप से फैसले जनता करे ऐसा नहीं है। जिसको अंग्रेजी में 'पार्टीसिपेटिंग प्रोसेस' यानी जनता के भाग लेने की प्रक्रिया कहते हैं, चाहे वह उद्योग की प्रक्रिया हो या राज्य चलाने की प्रक्रिया हो, जिसमें जनता भाग लेती हो, इस तरह की कोई चीज़ नहीं है। वह सब ऊपर होता है चाहे वह सर्वाधिकारी राज्य हो, चाहे मंगलकारी राज्य हो, चाहे

आज के अमरीका जैसी लिबरल स्टेट हो, हालांकि वहां भी अब पहले जैसी लिबरल स्टेट नहीं है, लेकिन फिर भी एक पूंजीवादी स्टेट, एक ढंग की लिबरल स्टेट आप उसे कह सकते हैं। वहां भी वह समस्या ज्यों की त्यों रह गयी है। जहां तक काम करने वालों के आनन्द का, रुचि का, उनके स्वातंत्र्य का प्रश्न है वह हल नहीं हुआ है। मज़दूरों के प्रतिनिधि ऊपर जाकर कंसलटेटिव कमेटी वगैरह में भाग लेते हैं, वे वहां बैठते हैं। वह ठीक है, लेकिन वे भी यंत्र के यंत्र रह गये हैं। चाहे राष्ट्रीयकरण (नेशनलाइज़ेशन) हुआ हो, चाहे और भी कुछ हुआ हो, काम करने वाले जो लोग हैं वह मशीन के हिस्से ही रह गये हैं, उनके लिए कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हर जगह दुनिया में अब ये सारी बातें आज हम देखते है। इस तरफ कुछ आगे ही हमारा कदम बढ़ रहा है। ऐसा नहीं है कि यह सब देख कर लोग मुड़ रहे हैं। कुछ थोड़े से विचारक सोच रहे हैं, समझ रहे हैं, लेकिन जो समाज की गति है वह इस तरफ आगे ही जा रही है।

हम लोग अपने देश में लोकशाही की चर्चा करते हैं। हम चाहते हैं कि गणतंत्र की स्थापना हो। गणतंत्र की बहुत सी परिभाषाएं हैं। शास्त्रीय परिभाषाओं को छोड़ दीजिए। जनता के लिए जो एक चालू सबसे अच्छी परिभाषा हो सकती है वह मेरे ख्याल से, इब्राहीम लिंकन की परिभाषा है—"गवर्नमेन्ट आफ दि पीपुल, फार दि पीपुल ऐन्ड बाई दि पीपुल" (जनता की हुकूमत, जनता के लिए हुकूमत, जनता द्वारा हुकूमत)। अब आप देखेंगे कि जो राज्य-शास्त्र के विचारक हैं, लेखक हैं, वे यह बात स्पष्ट कहते और लिखते हैं, कि "गवर्नमेंट आफ दि पीपुल" भी हो सकती है—जनता ने चुन करके शासन कायम किया। जनता के लिए भी हुकूमत हो सकती है। जनता के लिए डिक्टेटरी की भी हुकूमत हो सकती है जैसे मुस्तफा कमाल अतातुर्क की हुकूमत। वह जनता के लिए थी। लेकिन जनता के द्वारा चलायी गयी हुकूमत हो, यानी 'गवर्नमेंट बाई दि पीपुल' हो तो वे स्पष्ट कहते हैं कि यह सब सपना है, अव्यवहारिक है, गवर्नमेन्ट तो बराबर "आलीगार्की" रहेगी, मुट्ठी भर लोगों के हाथों में रहेगी। प्रश्न यही होगा कि जो हुकूमत करने वाले लोग हैं वे हुकूमत के स्थानों पर पहुंचे कैसे हैं। यदि राजशाही हो जैसी कि पुराने ज़माने में भारत में थी, क्षत्रियों के राज्यों में थी या ग्रीस में थी, ऐसे समाज में ऊपर का जो सत्ताधारियों का वर्ग है, उसके हाथों में राज्य रहेगा; या जो राज्य चलाने वाले हैं उन लोगों को जनता किसी न किसी प्रकार चुनेगी। इतना ही सवाल है। गवर्नमेंट बराबर 'आलीगार्कीकल' यानी मुट्ठी भर लोगों की रहेगी, शासन थोड़े से लोगों के अधिकार में रहेगा। हर हालत में गुटों के द्वारा

हुकूमत चलेगी, साधारण समूह, आम जनता हुकूमत नहीं कर सकती। और इस बात का बिलकुल विचार ही छोड़ देना चाहिए।

मैंने पिछले दिनों इस विषय पर थोड़ा अध्ययन किया। कितने ही लेखकों ने यह बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से कही है। वे लोकतंत्र के विरोधी नहीं है, फिर भी वह कहते हैं कि यही लोकतंत्र हो सकता है। जो 'पार्लियामेण्ट्री डेमोक्रेसी' के मानने वाले हैं और जो उसके प्रशंसक हैं उनका भी यह कहना है कि इसके आगे कहीं नहीं जा सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि इसको हम मान लें कि बस यहीं तक गणतंत्र आया है, जनता का राज्य इसके आगे जा नहीं सकता है, ऐसा कोई समाज नहीं बन सकता है, ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती है, जिसके अंदर साधारण प्रजा भी राजकाज में भाग ले सके। इसको हम मान लें या हम इस खोज में रहें कि नहीं, ऐसा समाज बन सकता है। यहां तक यह चीज़ आयी है, अब इसके आगे नये रास्ते ढूंढ़ना चाहिए। मैं उन लोगों में हूं जो इस बात को मानने के लिए हरगिज तैयार नहीं हैं कि बस यहीं तक 'डेमोक्रेसी' आ सकती है, इसके आगे नहीं जा सकती है। तो इसका 'पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी' नाम रखना मैं समझता हूं, ज्यादा सही न होगा। इसका सही नाम होगा—'डेमोक्रेटिक आलीगार्की।' मैंने जैसा कहा, यह 'डेमोक्रेसी', जनता का राज्य नहीं है, 'आलीगार्की' है। मैं उसके अंदर नहीं जाना चाहता हूं, आप सब 'पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी' चला रहे हैं, आप जानते हैं कि उत्तर प्रदेश में आम जनता का कितना हाथ है?

मैं इस चीज़ को हरगिज नहीं मानता कि 'डिमाक्रेटिक आलीगार्की' यानी राज्य थोड़े ही लोगों के हाथों में रहेगा और ये थोड़े लोग जनता के द्वारा चुने गये होंगे, बस इससे ज्यादा और कुछ नहीं हो सकता। मैं समझता हूं कि अगर जो लोग लोकतंत्र में विश्वास करने वाले हैं, वे बस यहां आकर खड़े हो जाते हैं, तो लोकतंत्र के लिए बहुत खतरा है, और मैं समझता हूं कि आज जो एशिया के देशों में आम लोगों में लोकतंत्र के प्रति अश्रद्धा है, इसका मुख्य कारण यह है कि लोकतंत्र जब कायम होता है तो उसमें जनता को यह अनुभव नहीं होता, वह यह नहीं देखती, कि उसको कोई हिस्सा मिल रहा है और वह कोई पार्ट अदा कर रही है। चार-पांच वर्ष में वोट देने का अधिकार है, बाकी सब काम ऊपर ही ऊपर से होता है। वह हमारे हित में हो या अहित में हो, यह दूसरी बात है, लेकिन वह हम नहीं कर रहे हैं। तो मैं समझता हूं कि इसमें खतरा है, खासकर उन देशों में जहां लोकतंत्र की कोई परम्परा नहीं है। वहां इस बात का खतरा जरूर है कि हम बह न जायं ऐसे राजतंत्रों की तरफ, जहां कि जनता के अधिकारों का और

भी संकोच हो जाय। यानी, हम किसी न किसी तरह के अधिनायकवाद की तरफ चलें जायं। इस बात का बराबर खतरा है, और जो लोग अधिनायकवाद के समर्थक हैं, किसी न किसी प्रकार की डिक्टेटरी के समर्थक हैं, वह यही कहते हैं कि तुम्हारा लोकतंत्र क्या है, जनता को वोट देने का अधिकार दे दिया है, उसके बाद क्या है? कहां पर जनता वास्तव में अपना काम करती है और जब जनता अपने अनुभव से देखती है कि वह काम नहीं करती है, उसको मौका नहीं मिलता है, समाज की बनावट ही ऐसी होती चली जा रही है कि उसके लिए यह असंभव होता जा रहा है, तो फिर वह इन लोगों की बातों पर ध्यान देने लगती है, कि भाई यह बात कुछ बहुत गलत नहीं कह रहे हैं। अगर इस बात का खतरा है तो प्रश्न यह है कि आगे कौन सा रास्ता है जिस पर हम चलें?

आज का जो संसदीय लोकतंत्र है उसमें दोष बहुत हैं और धीरे-धीरे इन दोषों को दूर किया जा सकता है। लेकिन जो बुनियादी दोष हैं, वे तो दूर नहीं किये जा सकते। बुनियादी तौर पर प्रतिनिधिक राज्य ही रहेगा। प्रतिनिधिक राज्य होने का मतलब यह रहेगा कि थोड़े लोगों के हाथ में सत्ता रहेगी। यह जो आर्थिक तंत्र है अगर इस प्रकार का ही रहेगा तो इस आर्थिक तंत्र में भी वही हालत होगी—सत्ता थोड़े से लोगों के हाथ में होगी, चाहे वह समाजवादी राज्य हो, चाहे साम्यवादी राज्य हो और चाहे पूंजीवादी राज्य हो, कोई भी हो, सत्ता थोड़े लोगों के हाथों में रहने वाली है। तो प्रश्न यह है कि हम किधर जायं, क्या करें?

कई ढंग से इस प्रश्न पर हम विचार कर सकते हैं और कई ढंग से विचार किया भी गया है। मैं इसको समाजवाद की दृष्टि से समझना चाहता हूं और आपके सामने रखना चाहता हूं। जो बुनियादी दोष संसदीय लोकतंत्र में मुझे दिखायी देता है, वह यह है कि इस आर्थिक और राजनैतिक तंत्र में जो यह रचना हुई है, वह समाज-शास्त्र के विरुद्ध है, जो मानव-समाज के सच्चे लक्षण और गुण हैं, तत्व और आत्मा है, यह सारा उसके विरुद्ध जाता है, मनुष्य का जो स्वभाव है उसके विरुद्ध भी यह जाता है।

मनुष्य एक सामाजिक जीव है। इसके महत्व को कहने की जरूरत नहीं है। लेकिन अक्सर हम इसके महत्व को नहीं समझते हैं। सामाजिक जीव होने का मतलब क्या होता है, यह बात हमारे ध्यान में नहीं रहती है। बहुत से प्राणी हैं इस पृथ्वी पर जो सामाजिक जीव हैं, बहुत से प्राणी ऐसे हैं जो नहीं हैं। पैदा होते ही अपनी जननी से भाग जायं, न भाग जायं, तो जिसने पैदा किया वही उन्हें खा जायगी। अलग होते ही वे अपना आहार स्वयं प्राप्त कर लेते हैं।

ऐसे भी प्राणी हैं जो कुछ दिनों तक अंडे में रहेंगे, कुछ घंटे, कुछ दिन तक ही माता की सेवा उनको चाहिए। लेकिन मनुष्य ऐसा जीव है उसे वर्षों लालन-पोषण समाज का मिलना चाहिए, नहीं तो जी नहीं सकता। जी भी जायगा किसी कारण से, तो वह पशु होगा, मनुष्य नहीं। अखबारों में देखा था कि आपके अस्पताल में रामू नाम का कोई लड़का आया था। न वह मनुष्य की भाषा बोलेगा, न मनुष्य के ढंग से चलेगा, न उस तरह खायगा, न पियेगा। वह मनुष्य नहीं होगा। समाज में रह कर ही हम मनुष्य बनते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि हमारा सारा शरीर समाज से बनता है। प्रकृति और समाज दोनों से हम बने हैं। लेकिन जैसे-जैसे समाज आगे बढ़ता जाता है, जो प्रकृति की देन है, उसका जो असर है वह घटता चला जाता है और समाज का असर बढ़ता चला जाता है। यही सामाजिक विकास है, यही सभ्यता है, यही दर्शन है, धर्म है, विज्ञान है। यह प्रकृति से नहीं समाज से आया है। समाज से सारा यह मिला है। मनुष्य को समाज की आवश्यकता बराबर रहती है। भीतर से समाज के लिए वह प्यासा रहता है और इसलिए समाज बनता है।

सबसे पहला समाज उसने परिवार बनाया जब खेती आदि का आविष्कार हुआ तो मनुष्य ने गांव बसाये, गांव-समाज उसने कायम किया। हम अपने देश में उसे गांव ही कहें तो ठीक होगा। इस प्रकार दुनिया भर में गांव बसे। मनुष्य के लिए यह प्राकृतिक या स्वाभाविक बात थी। उसके सामाजिक स्वभाव का प्रदर्शन परिवार में और परिवार के बाद कुटुम्ब-कबीला में हुआ। बीच की परिस्थिति को छोड़ दीजिए। उसके बाद छोटे-छोटे गांवों में उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति हुई। उसने ऐसा समाज बनाया जिसमें उसे सामाजिक जीवन का लाभ मिलता हो।

एक दूसरे से मिलना-जुलना, साथ रहना, एक दूसरे से लेना-देना, एक दूसरे के सुख-दुख में शरीक होना, परस्पर अवलंबित होना—यह सारा एक समाज का लक्षण है। इस तरह दुनिया भर में इसका विकास हुआ। इस प्रकार के प्राथमिक समाजों का विकास सबसे अधिक दुनिया में अगर कहीं हुआ तो भारत में हुआ। ग्राम्य समाज बनने के बाद ग्राम्य जीवन का विकास हुआ और ग्राम्य राज्य बने। सब जगह किसी न किसी हद तक उनका विकास हुआ। लेकिन जो इस विषय के विचारक हैं, जिन्होंने अध्ययन किया है, वे इस बात पर सहमत हैं कि भारत में जितना इसका विकास हुआ, दुनिया में उतना कहीं नहीं हुआ। फिर भी हर जगह इसकी स्थापना हुई और इस तरीके से मानव रहता रहा। बीच-बीच

में कहीं उसने शहर बनाये। वह भी ऐसे नगर थे जहां सामाजिक जीवन था यद्यपि उतना तो नहीं था जितना गांवों में था, लेकिन किसी प्रकार का सामाजिक जीवन नगरों में भी था। इतने विशाल नगर नहीं थे कि जिनमें मनुष्य खो जाय और समाज का अनुभव न कर सके। यह परिस्थिति हजारों वर्ष तक रही। इस समाज के विकसित होने के लिए अभी बहुत कुछ बाकी था, लेकिन फिर भी एक बुनियाद थी। इस बीच में क्या हुआ, इंगलैण्ड में और पश्चिमी युरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई। इस औद्योगिक क्रान्ति ने मानो समाज को तोड़ दिया, छिन्न-भिन्न कर दिया और मनुष्य को उसकी जड़ों से खींच लिया और खींच कर शहरों की मज़दूर-बस्तियों में उनको बिल्कुल भेड़ की तरह इकट्ठा कर दिया। वह जड़ से उखड़ कर समाज का व्यक्ति नहीं रहा, अंग नहीं रहा। वह क्या हो गया, जैसे कि एक बालू का कण हो।

एक मुट्ठी आप रेत उठा लें तो जैसे उस रेत का एक-एक कण अलग रहता है—एक दूसरे से कोई लगाव नहीं रहता है, उसी तरह से लाखों आदमी, बाद में करोड़ों आदमी शहरों में इकट्ठे हो गये और वह जो समाज था वहां टूट गया। आखिर, समाज का मतलब यह नहीं है कि मनुष्य को एक जगह इकट्ठा कर दिया जाय। यह कोई समाज नहीं है, यह तो भीड़ है। भीड़ को भी समाज के एक प्रकार से कुछ लक्षण या गुण प्राप्त हैं, लेकिन समाज उसको कहते हैं जैसे हम लोगों के शरीर में या किसी जीवित वस्तु में अनेक प्रकार के 'सेल' होते हैं, वे सेल एक दूसरे से मिले-जुले रहते हैं, एक दूसरे की सहायता करते हैं और इस तरह से एक दूसरे के साथ रह कर हर सेल का जीवन चलता है और उन सेलों से बना हुआ जो शरीर है उसका जीवन चलता है। इसलिए समाज एक जीवित सर्वांग शक्ति के समान है। अब यह क्या हो गया कि इस तरह के शहर बन गये, जहां कोई कहीं से आया, कोई कहीं से। न आपस में उनका परिचय है, कोई कहीं काम कर रहा है, कोई कहीं काम कर रहा है, बिल्कुल अलग-अलग अंगहीन निर्जीव शरीर के समान समाज बन गया, एक 'इनआर्गेनिक सोसाइटी' बन गयी, जिसको समाज नहीं कह सकते। जीवित समाज टूट कर उसका यह रूप हो गया। इस तरह से जिस समाज की रचना हुई, जिसको नगरीकरण कहते हैं, जो अपने देश में भी बड़े जोरों से आजकल चल रहा है। शायद नगरों की अपने देश में जनसंख्या हर साल ३५ लाख बढ़ जाती है। संभव है आगे और भी बढ़े। इस नगरीकरण के चलते जो समाज का एक एटमाइजेशन हुआ यानी शरीर की सेलों की तरह से नहीं किन्तु निर्जीव पदार्थ या 'इनआर्गेनिक मैटर' की तरह और उसके जो अणु हैं उस तरह से

मनुष्य को बना दिया, सोसायटी को उस तरह से तोड़ दिया। इसका जो राजनीति के क्षेत्र में प्रतिबिम्ब हुआ, वह हुआ संसदीय लोकतंत्र का निर्माण।

संसदीय लोकतंत्र चाहे जिस प्रकार का हो, भले ही अमरीका की 'प्रेसीडेन्टल डेमोक्रेसी' को इस परिभाषा में हम न ला सकें क्योंकि जो वहां की कैबिनेट होती है, कांग्रेस के प्रति जिम्मेदार नहीं होती, प्रेसीडेन्ट के प्रति वह जिम्मेदार होती है। लेकिन फिर भी जब हम संसदीय लोकतंत्र की बात करते हैं, तो यह सब जो इस प्रकार के राज्यतंत्र हैं उनमें अमरीका और फ्रांस के लोकतंत्रों को भी ले लेते हैं। जितने तरह के लोकतंत्र हैं उनकी तह में क्या बात है? उनका आधार क्या हैं? उनका आधार है व्यक्ति और व्यक्ति का बोध।

अपने देश में कोई १८-२० करोड़ वोटर हैं। इन मतदाताओं के मत से सारे संसदीय पार्लियामेंट का निर्माण हुआ है। ये मतदाता कौन हैं? ये व्यक्ति कौन हैं? समाज में व्यक्ति अलग से तो नहीं रहता है। व्यक्ति का अपना परिवार है और परिवार के अंदर वह एक पुर्जे की तरह है और इसी तरह परिवार भी बड़े समाज का एक पुर्जा है। और इनसे औद्योगिक समाज बना। उस पर से जो एटमाइज़ेशन हुआ, तो अलग-अलग व्यक्ति हुए। उन्हीं अलग-अलग व्यक्तियों के आधार पर राजनैतिक निर्माण उन्होंने किया। अब इन व्यक्तियों यानी २० करोड़ मतदाता को आप जोड़ देते हैं, तो २० करोड़ मतदाता कुल मिला कर भारत का समाज बन गया, भारत का राष्ट्र बन गया। हम यह हरगिज नहीं कह सकते हैं। यह गलत बात है। 'रिपब्लिक फिलासफी' शीर्षक वाल्टर लिपमन की एक छोटी सी पुस्तिका है। इस बात पर उसने बहुत जोर दिया है कि हम जो यह मानते हैं कि लोगों ने अलग-अलग वोट दिया तो एक व्यक्ति का क्या प्रश्न है, कौन सा हित सोच कर, किन समस्याओं को सामने रख कर उसने अपना वोट दिया है। जो राज्य का तंत्र है उसमें सामाजिक जीवन की छाप पड़नी चाहिए। मनुष्य समाज में रहे और समाज की समस्याएं किस प्रकार की हैं, कैसे उनको हल करना है? व्यक्तियों के बीच में, व्यक्तियों के समूह के बीच में, जो परस्पर के संबंध में होते हैं, इन संबंधों का प्रतिबिम्ब, इनकी छाया हमारे राजनैतिक तंत्रों पर पड़नी चाहिए। उस आधार पर यह सारा तंत्र खड़ा होना चाहिए, न कि व्यक्तियों के मत के ऊपर। समाज की रचना अगर हम ठीक कर लेते हैं, मनुष्य का जो सामाजिक स्वभाव है, उसके अनुरूप उसे कर लेते हैं, यानी जो समाज का मूल तत्व है उसके अनुरूप हम समाज की रचना कर लेते हैं, तो बाकी चीजें उसमें आप से आप निकल जाती हैं। उसके बिना हमको कोई खड़े होने का आधार नहीं

मिलता। विकेन्द्रीकरण आदि की हम सारी चर्चा कर जायं लेकिन जिन तत्वों के ऊपर हमको समाज की रचना करनी है, उनकी तरफ हमारा ध्यान न जाय, तो विकेन्द्रीकरण हवा में रह जायगा, यानी समाज तो 'इनआर्गेनिक' समाज रह गया, इसमें कुछ सजीवता नहीं आयी, एक दूसरे को बांधने वाले जो तत्व हैं वे नहीं मिले। यह सारा नहीं हुआ। और विकेन्द्रीकरण की हम बात करते हैं तो उसको हमें उसकी जड़ के साथ मिला देना चाहिए। इतना यहां हो सकता है।

हमने आपसे कहा कि प्राचीन काल में या हाल तक इस तरह के समाज बने थे। सामाजिक जीवन की, और उनके विकास की बहुत गुंजायश थी। लेकिन अब यह सारी शहरी सभ्यता हो गयी, इंगलैंड में, अमेरिका में—अमरीका में कोई गांव है नहीं, कम्यूनिटी भी नहीं है, ऐसा आप कह सकते हैं। शहरी समाज भी समाज हो सकता है, बशर्ते कि उसमें समाज के लक्षण हों। सिर्फ इसलिए नहीं कि लोग इकट्ठे रहते हैं एक जगह। एक औद्योगिक संस्थान या स्टेट, आपने बसा दिया, जमशेदपुर में लोहे का कारखाना बना दिया, भिलाई और राउरकेला का कारखाना बना दिया, और वहां पचास हजार या एक लाख आदमी रहने लगे तो वह समाज नहीं हो गया। यह तो वहां एक प्रकार की भीड़ हो गयी। वहां न्यूयार्क की तरह बहुत ज्यादा यानी एक करोड़ लोग नहीं हैं, सिर्फ पचास हजार ही लोग हैं, लेकिन वह भी समाज नहीं होगा। जब तक उसे अच्छी तरह समझ कर हम कायम नहीं करते हैं।

जिस समाज-रचना का चित्र हमारे सामने है और हम सबके सामने होना चाहिए, वह एक ऐसा चित्र है जो कि कम से कम अपने देश में जो समाज-रचना पहले थी, उससे बहुत भिन्न नहीं है। उसकी सूखी हुई जड़ें, जो बिल्कुल ही सूख नहीं गयी हैं, आज भी मौजूद हैं। हमें उनके ऊपर कलम लगाना चाहिए। आज जिस समाज को हम बनाना चाहते हैं, उसके लिए हमें अपनी पुरानी भारतीय परम्परा से रस मिलेगा और उसी से वह पुष्ट होगा। इसके लिए पहली बात हमें यह सोचनी चाहिए कि जो परिवार है, वह टूट रहा है। कई तरह के कानून बनते हैं। यह जो पाश्चात्य या औद्योगिक सभ्यता है इसके कारण भी वह टूट रहा है। कई प्रकार के भूमि-व्यवस्था के सुधार होते हैं, उनसे वह टूटता है। सुधार न हों, यह मैं नहीं कहना चाहता। सुधार ऐसा हो, जिससे कि हमारे समाज की बुनियाद न टूटने पाये।

हमने स्केण्डेनेविया के स्वीडन में बुड्ढे लोगों के घर (ओल्ड पीपल्स होम्स) को देखा। यह युरोप का सबसे अमीर देश है। आप जाकर उनके घर देखें।

बड़े सुन्दर घर हैं, बड़े अच्छे प्लाट बने हुए हैं। वहां बड़ी सुविधा है खेल के लिए, खाने-पीने के लिए, उनके मनोरंजन के लिए, लेकिन क्या है? अपने जीवन के अंतिम दिन हैं उनके। उनके जो बाल-बच्चे हैं वे अलग हैं, यानी बूढ़े लोगों को अपने बेटे-बेटियों से उतना मतलब नहीं है। अगर मानवी आधार पर समाज का गठन करना है तो इस बात का उपाय करना होगा कि बूढ़े-बच्चे एक साथ रह सकें। ऐसा उपाय वहां नहीं है। जब वे बूढ़े हो गये तो उनके लिए अलग घर बन गये। अलग हो गये वे समाज से तो यह कैसा समाज हो गया? उनके जो बेटे हैं या उनके और परिवार के लोग हैं, वे उनको हफ्ते में, महीने में जाकर देख आयेंगे या कभी रविवार के दिन उनको घर बुला लायेंगे, खाने-पीने के लिए। उनके साथ सनीमा वगैरह चले जायंगे। वह दुनिया में थोड़े दिनों के मेहमान हैं और इस तरह से उनके साथ व्यवहार हो रहा है। देखने में लगता है, बड़ा सुन्दर है। जो बच्चे हैं उनके साथ भी अन्याय हो रहा है। ये बड़े अमीर देश हैं। यहां हर तरह की अच्छी शिक्षा का प्रबंध है लेकिन माता-पिता से, बाप-दादा से, बच्चों का कोई घनिष्ट संबंध नहीं है। माता भी काम करने गयी और पिता भी काम करने गये। बाबा तो हैं ही बुढ्ढों के घरों (ओल्ड पीपल्स होम्स) में, तो बच्चे कहाँ रहें? बच्चों के देखने के लिए किसी को भाड़े पर रखा, वे बच्चों को देखते हैं। कोई संस्था है, उसमें बच्चों को रख दिया। इस प्रकार से सब हो रहा है और समाज की जो आखिरी बुनियाद परिवार है, वह टूट रहा है। 'कम्यूनिटी' तोड़ दी इन्होंने। आप आखिरी बुनियाद भी तोड़ रहे हैं, इसका क्या नतीजा होगा? मालूम नहीं। डाक्टर तथा मनोवैज्ञानिक लोग बताते हैं कि जो उनके ऊपर दबाव पड़ रहे हैं, उनके जीवन में जो विकार पैदा हो रहे हैं, वे सामने आ रहे हैं क्योंकि उनका बिल्कुल अप्राकृतिक जीवन है।

इसलिए पहली बात तो यह है कि परिवार हमारे पुष्ट हों, वे टूटे नहीं, अच्छे ढंग से उनका जीवन चल सके, उनको इसका मौका मिल सके। बच्चों को, बूढ़ों को सबको अच्छे ढंग से अपना जीवन बिताने का अवसर प्राप्त हो सके, यह जरूरी है। इसके बाद दूसरी चीज़ जरूरी है और वह इससे कम जरूरी नहीं है। यदि सिर्फ परिवार ही रहा और वह परिवार जैसे जंगल में हम अकेले घूमें या समुद्र की छाती पर बिल्कुल काठ के टुकड़े की तरह तरंगों में बहें, उलटें-पलटें, इस तरह से समुद्र में लकड़ी के समान रहें तो ऐसे मानव-समुदाय में मानव-जीवन नहीं होगा, वह समाज नहीं होगा। मानवता के गुण उसमें नहीं होंगे तो समाज के अंदर मानवता का विकास भी नहीं होगा। इसलिए दूसरे कदम पर हमें यह

करना जरूरी है कि जो पुरानी 'कम्यूनिटी' थी उसको हम फिर से कायम करें। 'कम्यूनिटी' शब्द अंग्रेजी का है, हिन्दी में उसे समुदाय कह दें। उसका पूरा-पूरा अर्थ समुदाय से व्यक्त नहीं होता है लेकिन धीरे-धीरे उसमें वह अर्थ आ जायगा। यानी मानव-समुदाय या कम्यूनिटी ऐसी हो जिसमें आपस में आदान-प्रदान हो, एक दूसरे के सुख-दुख में हम हाथ बंटायें, एक दूसरे से जान-पहिचान हो। ऐसा नहीं, कि एक बड़े ८ नं० के फ्लैट में कलकत्ते में रहते हैं और ९ नं० के फ्लैट में कोई दूसरा है। सुबह उसमें ताला बंद करके काम पर गये, वह भी गया, न हमारी उससे पहचान, न उसकी हमसे पहचान। इसलिए शहरों में जब समाज टूट जाता है तो कृत्रिम समाज बनते हैं जैसा लोगों ने लिखा है कि मनुष्य को समाज तो चाहिए इसलिए एक क्लब बना लिया। कोई दो मील इधर रहता है, कोई तीन मील उधर रहता है, कोई कहीं काम करता है, कोई कहीं काम करता है। क्लब में वह शाम को आता है, कोई शराब पीता है, कोई ब्रिज खेलता है या कुछ पढ़ता है या नृत्य अथवा 'डांस' करता है। स्केटिंग एसोशियेसन बना लिया, या ऐसा ही कोई एसोशियेसन बना लिया, जहां कुछ मनुष्य इकट्ठे हों। आज की समाज-रचना ने उसे बिखेर दिया, बालू के कणों की तरह। उसकी इच्छा है कि हम इकट्ठे हों तो इकट्ठा होना कृत्रिम रूप से होता है।

यह कृत्रिमता समाज में न आये, एक प्राकृतिक समाज बने, इसके लिए छोटे-छोटे स्थानीय समाज हों और संतुलित वहां का जीवन हो। ऐसा समाज न हो कि सिर्फ वहां खेती होती हो। खेती भी होती हो, उद्योग भी चलते हों। वहां शिक्षा का भी प्रबंध हो, स्वास्थ्य के लिए भी प्रबंध हो। इस तरह के छोटे-छोटे प्राथमिक समाज बनें, गांव बनें।

हमारे देश में जो प्राचीन काल में गांव थे, प्राचीन काल क्यों, आज से सौ वर्ष पहले या पचास वर्ष पहले जो गांव थे वे वस्तुतः इसी प्रकार के समाज थे। उस दिन मैं पढ़ रहा था कि सर चार्ल्स मेटकाफ, ऐक्टिंग गवर्नर जनरल, ने सन् १८३२ में ईस्ट इंडिया कंपनी को अपनी रिपोर्ट भेजी। उसमें उसने वर्णन किया है कि यह जो भारत में ग्राम-राज्य है, एक अद्भुत चीज है और इसका किसी तरह से नाश नहीं होना चाहिए। बड़ा सुन्दर वर्णन किया है उसने। एक दूसरे अंग्रेज ने लिखा है कि भारत में यह जो ग्राम-व्यवस्था है, उसमें ऐसी ताकत है, शक्ति है, कि इस देश में न जाने कितने परिवर्तन हुए हैं, कितने बाहर से हमले हुए हैं, बाहर से लोग आये हैं, गये हैं, उलटफेर हुए हैं, लेकिन यह जो गांवों की व्यवस्था है, गांवों का राज्य है, वह सब एक ढंग से चलता गया है। उसने कहा

है कि समुद्र की तरंगें, उसके हल्फे जैसे चट्टान से टकराते हैं और उस चट्टान पर कोई भी असर नहीं होता, उसी तरह से चारों तरफ से इतिहास के थपेड़े इन गांवों को लगते रहे हैं और वे कायम रहे हैं। भारत के इतिहासकारों का कहना है कि अगर परम्परागत भारत आज भी कायम है, ग्रीस नहीं कायम है, रोम नहीं कायम है, पुराना मिस्र कायम नहीं है, बगदाद की पुरानी सभ्यताएं अब नहीं हैं, फ़क़त भारत है, जिसमें एकता, अविच्छिन्नता है। बीच में कुछ टूट गया हो ऐसी बात नहीं है। आज भी संतों की परम्परा तथा अन्य परम्पराएं हैं।

इसके दो मुख्य कारण हैं, एक कारण है कि जो आध्यात्मिक रचना हुई, और दूसरा कारण यह कि जो ग्राम्य-रचना हुई। लेकिन वह ग्राम्य-रचना तो टूट गयी, जैसा मैंने आपसे कहा। लेखकों ने ऐसा बताया है कि जितना विकास इस प्राथमिक समाज का भारत में हुआ था उतना और कहीं नहीं हुआ था। प्रो० आल्टेकर, जायसवाल इंस्टीट्यूट, पटना, बहुत बड़े शोध करने वाले एवं विचारक हैं, उन्होंने यह बताया और दूसरे लोगों ने भी यह कहा है।

वह बात तो अब नहीं है। जैसा स्वशासन या अपना राज्य भारत के गांवों में चलता था, वैसा कहीं भी दुनिया के 'लोकल सेल्फ गवर्नमेंट्स' में न पहले था और न आज है; ऐसा उन लोगों का मत है, जिन लोगों ने अच्छी तरह से अध्ययन किया है। आश्चर्य होता है कि वे यही गांव हैं, जहां यदि अकाल पड़ गया तो गांव की पंचायत या उसके कोई दूसरे नाम थे, उन्होंने बड़े-बड़े कर्ज लिये और अनाज लाये। जो राज्य करता है, जो उत्तर प्रदेश का राज्य करता है, जो दिल्ली का राज्य करता है, वह गांव के गांव करते थे, संगठित रूप से करते थे; कालेज के कालेज बनाते थे, क्या-क्या करते थे। जो उनका चुनाव का ढंग था, राज्य चलाने का ढंग था, वह अद्‌भुत था, ऐसा कहना पड़ता है। अब वह सब खत्म हो गया है, लेकिन उसका जो बाहर का छिलका है, वह है। उसका पार्थिव रूप तो है, लेकिन समाज की भावना नहीं है। ग्रामवासियों के अंदर कोई एहसास नहीं है, कोई उस तरह की अनुभूति नहीं होती है कि हम सब एक जगह एक परिवार की तरह हैं। वे यह अनुभव नहीं करते कि एक नाव पर हम बैठे हुए हैं डूबेंगे एक साथ, उतरायेंगे एक साथ। हमको मिल कर खेती की समस्या को हल करना चाहिए, शिक्षा और बेकारी की समस्याओं को हल करना चाहिए। हैजा आता है तो उसकी रोक-थाम सामूहिक रूप से करनी चाहिए। वहां कोई पारस्परिक अवलम्ब, सामूहिक या सम्मिलित जीवन आज नहीं रह गया है। फिर भी वह चीज़ कायम है लेकिन वह चीज़ टूट रही है। जो यह नगरीकरण हो रहा है उससे यह चीज टूट

रही है। हमसे लोग कहते हैं, हमारे मित्र अशोक मेहता कहते हैं कि भाई नगरीकरण सारी दुनिया में हो रहा है, कैसे रोक सकते हो इसको। अब मेरी समझ में नहीं आता कि नगरीकरण क्या कोई भूकम्प है कि जिसको हम रोक नहीं सकते। आखिर भूकम्प से बचने के लिए भी हम ढंग से मकान बना लेते हैं, उसे रोक तो नहीं सकते क्योंकि वह विद्या तो अभी तक नहीं आयी है। बिजली ऊपर से गिर जाती है, उससे बचने के लिए भी कुछ उपाय किया जाता है। लेकिन यह तो मनुष्य ने अपने दिमाग से पैदा किया है खास प्रकार का ढंग, खास प्रकार का उद्योग, उसके चलते यह सारा होता है। इसलिए अगर हम सोच लें कि हमें इस प्रकार का ही समाज बनाना है, तो हम नगरीकरण को रोक सकते हैं। आज जो स्थिति है उसमें नगरीकरण नहीं रुक सकता, रुकना असंभव है। अगर गांव का विकास, पुराने जो समाज थे या आगे जो हमारी कल्पना है उसके हिसाब से हो, कि एक सम्पूर्ण जीवन वहां हो सके, एकांगी जीवन न हो, लोग न सिर्फ खेती ही करते हों, उद्योग भी हो, शिक्षा भी हो, स्वास्थ्य भी हो, जितना एक गांव के अंदर हो सके, उसे लोग करें।

प्राथमिक समाज या गांव कितना बड़ा हो, कितना छोटा हो, यह एक कठिन और जटिल प्रश्न है। प्राकृतिक रूप से इसका उत्तर दिया गया है, कुछ सोच-विचार भी किया जा सकता है। उसे इतना छोटा नहीं होना चाहिए कि वहां सामूहिक जीवन का विकास न हो, सभ्यता और संस्कृति का विकास न हो। संतुलित जीवन का विकास न हो, और एक रिक्त सा जीवन वहां का रहे, जैसे ५ घरों के गांव हैं। आदिवासियों के तीन-तीन घरों के उनके गांव भी हमने बिहार में देखे हैं। वहां कोई प्राथमिक समाज नहीं है। वहां कोई प्राथमिक समाज हो भी नहीं सकता। इसके विपरीत यदि ५०,००० आबादी के गांव हो जायं तो भी वहां प्राथमिक समाज नहीं होगा। इसलिए उसका उपयुक्त साइज निकालना पड़ेगा। हो सकता है कि वह केरल में दूसरा हो, उत्तर प्रदेश में तीसरा हो, आसाम में चौथा हो, राजस्थान में पांचवां हो, और इंगलैंड में एक हो अमरीका में दूसरा हो। परिस्थितियों के अनुसार वह भिन्न-भिन्न होगा। लेकिन वस्तुतः प्राथमिक समाज का निर्माण हो, प्राथमिक समाज में जीवन एकांगी न हो, वहां सम्पूर्ण एवं संतुलित जीवन हो सके, इस बात का प्रयास होना चाहिए। मनुष्य की जो प्राथमिक आवश्यकताएं हैं, उनकी पूर्ति यथासंभव प्राथमिक समाज में होनी चाहिए। प्राथमिक आवश्यकताओं में अन्न की समस्या, वस्त्र की समस्या, छप्पर और मकान की समस्या, हल हो सके। हर गांव में बच्चों को प्राथमिक

शिक्षा देने के लिए गांव वाले बच्चों के अभिभावकों या गांव-समाज का कर्तव्य है कि वह प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध स्वयं करें। राज्य का यह हरगिज कर्तव्य नहीं है। प्राथमिक स्वास्थ्य का भी वह स्वयं प्रबंध करें और भी ऐसी प्राथमिक सेवाएं हैं जिनका प्रबंध वे कर सकते हैं। इसके लिए अंदर की जो शक्ति है उसका अधिकाधिक विकास हो, इसके पहले कि बाहर से शक्ति आये।

यह तो हुआ प्राथमिक समाज। अब ऐसे बहुत से काम हैं जो प्राथमिक समाज नहीं कर सकता है। तो फिर १० गांव, २० गांव, ५० गांव या १०० गांव का एक ब्लाक मान लीजिए। मान लीजिए ८० के करीब गांव औसतन एक ब्लाक में होते हैं। बलवंत राय मेहता कमेटी की रिपोर्ट में जिसे पंचायत समिति कहा गया है, उसे ले लीजिए, ब्लाक का क्षेत्र ले लीजिए। वह भी कृत्रिम है, लेकिन ले लीजिए। कहीं पर एक लाइन लेकर एक और वृहत्तर समाज बने। यानी 'प्राइमरी' से एक 'सेकेन्डरी कम्यूनिटी' बने, जिससे कि कई समुदाय मिल कर आपस में अपने प्रश्नों को हल करें। कुआं तो प्राइमरी समाज बना सकता है, लेकिन हो सकता है कि वहां बड़ा बांध बांधना हो, कोई नाला निकालना हो, इस तरह का कोई काम करना हो। अथवा प्राथमिक पाठशाला तो प्राथमिक समाज खोल सकता है, चला सकता है लेकिन माध्यमिक हो, उच्च विद्यालय हो जिसे वह नहीं कर सकता है। तो ऐसे कामों को सौ गांव मिल कर करें। इस प्रकार की आवश्यकता है। हो सकता है गांव में लोहार हो, बढ़ई हो और वे हल बनायें, तथा छोटे औजार बनायें, लेकिन सौ गांव मिल कर एक अच्छा सा कारखाना रखें, सर्विसिंग सेन्टर रखें। वहां बिजली का वितरक केन्द्र बने, जहां से बिजली गांवों में जाती हो। इस प्रकार से एक और बड़ा क्षेत्र हुआ। यह जो प्राइमरी समाज हुआ, वह स्वशासित है और उसका प्रयास हो कि वह अपने यहां अधिकाधिक कार्य स्वयं करें। जो काम वह स्वयं नहीं कर सकता है, वह आसपास के गांव के साथ मिल कर करे। अब जो पंचायत समिति का क्षेत्र हुआ या ब्लाक का क्षेत्र हुआ लोहा नहीं बना सकते, रेल नहीं चला सकते और कितने ही काम हैं, आज की परिस्थिति में कालेज शायद नहीं खोल सकते, कल शायद खोल सकें तो उसके लिए ब्लाक मिल कर फिर पूरे का पूरा जिला लेकर अपनी समस्याओं का हल करें। इस प्रकार परिवार, परिवार के बाद प्राथमिक समुदाय, उसके बाद उससे बड़ा ब्लाक समुदाय, फिर उससे भी बड़ा जिला समुदाय। इस तरह से समुदाय आपस में मिलते चले जायं। विभिन्न स्तरों पर उनका समन्वय होता चला जाय, स्तर उठते चले जायं, और दिल्ली के स्तर पर भारत के १४ या २० जो प्रान्त या प्रदेश हैं उनका वहां समन्वय

हो। यानी दिल्ली का राज्य वही काम करे जो प्रदेश अपने यहां नहीं कर सकते हैं। हर प्रदेश की अपनी सेना नहीं होगी। हर प्रदेश वैदेशिक संबंध स्थापित नहीं करेगा, हर प्रदेश सिक्का अपना-अपना नहीं चलायेगा। इस तरह थोड़े से थोड़े काम केन्द्रीय राज्य के हाथ में रहें और बाकी नीचे। जीवन के जो सबसे आवश्यक काम हैं वे प्राथमिक समुदाय में हल होने चाहिए। उसके बाद इस तरह से हम आगे चलते चले जायं। गांधी जी ने यही चित्र हमारे सामने रखा कि अधिक से अधिक सत्ता गांवों में हो, कम से कम सत्ता ऊपर हो।

अब यह तो हम लोग चर्चा करते हैं कि ऐसा एक समाज बने, जिसमें शासन ही न हो। यह एक लक्ष्य है, आदर्श है। उस आदर्श तक तो मनुष्य पहुंच नहीं सकता कि एक संयुक्त समाज बन जाय, शासन-मुक्त समाज बन जाय। ऐसी अवस्था में हम पहुंच नहीं सकते कि जहां राज्यहीन समाज बन जाय। राज्य रहेगा। लेकिन अगर हम लोकतंत्र चाहते हैं और हम चाहते हैं कि उसका अधिकाधिक विकास हो तो हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि राज्य के काम का जो दायरा है उसका अधिकाधिक संकोच होता जाय। वह घटता चला जाय और केन्द्रीय राज्य के नीचे जो शासन के स्तर हैं वहां अधिकाधिक अधिकार हो, सत्ता हो। इस प्रकार हम इसे अपने देश का पुराना ढांचा कह सकते हैं। यों तो पहले राजशाही थी। वेदों के ज़माने में भी राजा थे। राजा लोगों का चुनाव होता था। समितियां थीं, समितियों का बहुत ज्यादा दबाव होता था। फिर गणतंत्र बने, पंजाब में बने, पूर्वी उत्तर प्रदेश में हुए, उत्तर बिहार में हुए। इस प्रकार के खासे समृद्ध गणतंत्र थे, बड़ी उनकी शक्ति थी और अच्छे ढंग से वे सारा कार्य करते थे। लेकिन जब बाहर से बड़े-बड़े हमले होने लगे तो भारत के राजनीतिज्ञों ने विचार किया, जिनमें सबसे प्रमुख चाणक्य थे, कि हम इस तरह भारत को बचा नहीं सकेंगे। गणतंत्र के आधार पर भारत की एकता स्थापित नहीं हो सकती थी। गणतंत्र का उतना विकास नहीं हुआ था जिससे कि सारा देश एक गणतांत्रिक तंत्र में बंध जाय। सिवाय इसके कि राजशाही हो और राजा का राज्य हो, कोई दूसरा रास्ता नहीं था, तो उन्होंने भारत में साम्राज्य की स्थापना की भारत की एकता के लिए, बाहर से आक्रमणकारियों को रोकने के लिए। उन्होंने उन्हें रोका। जब साम्राज्य रहा तो रोका, परन्तु चाहे वह केन्द्रीय शासन गणतंत्रात्मक राज्य का हो और चाहे राजशाही का हो, उसके नीचे गांव-राज्य और नगर-राज्य थे और आपस में उनके संघ भी थे। उन्हें जिला वगैरह तो नहीं कहते थे लेकिन ये आपस में मिल कर बड़े-बड़े क्षेत्रों में अपना समन्वय या अपनी समस्याओं को एक साथ

मिल कर हल करने का उपाय करते थे। इस प्रकार जो हमारी पुरानी परम्परा थी उससे भी हम मिलते हैं और उन जड़ों में कलम लगाते हैं। साथ ही समाज-शास्त्र के अनुसार मनुष्य का जो सामाजिक स्वभाव है उसके साथ भी हम इस समाज-रचना को जोड़ते हैं, और जो हमारा लक्ष्य है कि अधिकाधिक अपने भाग्य का निर्णय लोग कर सकें इसकी तरफ हम बहुत बड़ा कदम उठाते हैं। हम नहीं कहते कि यही आखिरी ढंग या ढांचा होगा, लेकिन आज की जो हालत है उससे कहीं ज्यादा हम आगे की तरफ जाते हैं यानी पारस्परिक हितकारी जनतंत्र की तरफ।

अब एक प्राथमिक समाज को लीजिए। उस प्राथमिक समाज का काम यह होगा जैसे आज ग्राम-दान हम गांव में देखते हैं। झबेर भाई पटेल की जो प्रगाढ़ क्षेत्र योजना चल रही है उनके कुछ गांवों को भी हमने देखा। अभी मुरादाबाद के कमेलपुर गांव में देखा, किसी कदर झनौरा में भी है, किसी कदर और गांवों में भी देखा कि गांव के लोगों ने यह निर्णय लिया कि गांव में कोई बेकार नहीं रहेगा। उत्तर प्रदेश के एक लाख, सवा लाख या जितने भी गांव हैं उन गांवों में कोई बेकार न रहे। आज के राजतंत्र में इसकी जिम्मेदारी आपके ऊपर है कि कोई बेकार न रहे। यह उत्तर प्रदेश की सरकार देखे। तो इसका क्या मतलब है? यह कोई मानव-जीवन है। मैं गांव में रहता हूं। हमारे पड़ोस में एक भाई रहता है वह बेकार है। वह भूखा है, दुखी है, गरीब है। हमारे ऊपर जिम्मेदारी नहीं आती और वहां से सौ, दो सौ, आठ सौ, हजार मील दूर एक व्यक्ति बैठा हुआ, जिसके हाथ में उत्तर प्रदेश का राज्य है, उसके ऊपर जिम्मेदारी आयेगी, आती है। लेकिन पहली जिम्मेदारी प्राथमिक समाज के ऊपर आनी चाहिए। सबको काम मिले, सबको अन्न हो, सबको वस्त्र हो, सबको प्राथमिक शिक्षा हो, प्राथमिक स्वास्थ्य के साधन प्राप्त हों, यह सारा प्राथमिक समाज का काम हुआ। इसलिए जो आर्थिक तंत्र बनेगा, वह भी इसी प्रकार आप से आप विकेन्द्रित होगा, बल्कि यों कहिए कि समाज-रचना जब विकेन्द्रित होती है, उसमें सब आप से आप विकेन्द्रीकरण होता है? विकेन्द्रीकरण कोई आसमान से नहीं लाते हैं। लेकिन समाज को हम विकेन्द्रित करते हैं। तो फिर हमारा आर्थिक तंत्र, राजनैतिक तंत्र, शिक्षा तंत्र, स्वास्थ्य का तंत्र यह सारा विकेन्द्रित होता चला जाता है और जैसा मैंने कहा कि नीचे के स्तर से हम उठते चले जाते हैं। और उन स्तरों के ऊपर जो उस स्तर के समुदाय हैं, समाज हैं, उनका आपस में समन्वय होता चला आता है। इस तरह हम आगे दिल्ली तक पहुंचते हैं और उसके भी ऊपर अगर हम जायं तो सारी दुनिया का जो मानव-समुदाय है, हम वहां तक पहुंच सकते हैं।

यह संक्षेप में हमारी कल्पना है। हमारी क्या कल्पना है, गांधी जी ने भी इस ढंग की बात कही है। सामाजिक प्रकृति वगैरह की बात मैंने इसमें जोड़ी है, और जगह से लाकर जोड़ी है। लेकिन इस प्रकार से एक चित्र हमारे सामने आया।

अब आप देखिए आज कल नियोजन होता है और उसका बड़ा जोर है। दिल्ली में नियोजन होता है। गांव में नियोजन नहीं होता है, क्षेत्र में नियोजन नहीं होता है। इसका अब थोड़ा सा विचार शुरू हुआ है। लेकिन अगर जनता का सच्चा राज्य हो और समाज का जो सही स्वरूप है वह हो तो परिवार से नियोजन शुरू होकर दिल्ली के लिए बहुत थोड़ा नियोजन रह जाय। नियोजन तो नीचे है उसके बाद हम समन्वय करते हैं। अलग-अलग तो हम नहीं हैं। एक प्राथमिक समाज है, वह दूसरे प्राथमिक समाजों से अलग तो नहीं है। हमारा परस्पर का सम्बन्ध होता है। उन्हीं का नियोजन है। अब उसमें जो दिक्कत है, वह यह है कि आज जो हमारे गांव हैं उनमें कोई ऐसी शक्ति हमको देखने को नहीं मिलती। १०० वर्ष पहले वह शक्ति थी कि जिसके बारे में, अंग्रेज़ों ने, विदेशियों ने भी इतनी प्रशंसा करके वर्णन किया है, लेकिन आज वह नहीं है। मैं नहीं देखता हूं कि किसी के पास वह कुंजी आयी है जिससे कि लोकशक्ति का जो भंडार है, वह खोल दिया जाय। मैं समझता हूं कि देश के निर्माण का, देश की योजना का जो सबसे बड़ा प्रश्न है, वह यह है कि जनता जो आज मूर्छित है, एक तंद्रा में, निद्रा में पड़ी है, शिथिल और निष्क्रिय है, किस तरह से उसमें हम शक्ति भरें कि वह अपना काम खुद करना शुरू करे। मैं समझता हूं कि यह सबसे बड़ा प्रश्न है और इसे हल किये बिना काम आगे नहीं चलेगा। राज्य करने वालों ने पहले शायद यह समझा था कि हम सब कुछ कर लेंगे। अब अनुभव से उन्होंने यह समझा कि यह नहीं हो सकता। जनता का सहयोग नहीं मिलता है। जनता के सहयोग के अभाव में सामुदायिक विकास योजना, अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन आदि कुछ भी नहीं चलता। प्रश्न जनता के सहयोग के अभाव का नहीं है। प्रश्न यह भी नहीं है कि जनता का सहयोग हो और किसके साथ हो या नहीं हो, प्रश्न यह है कि जनता का अभिक्रम, 'इनीशियेटिव' हो, सहयोग सरकार का हो। आज जो भाषा बोली जाती है, उसकी उल्टी स्थिति पैदा करनी चाहिए। लेकिन आज वह स्थिति है नहीं। क्या कारण है?

इस पर आप सबका ध्यान जाना चाहिए। मैं समझता हूं कि आप हम सब इसके जिम्मेदार हैं। यह मूर्छा अवस्था गांव में जाने वाले सभी जानते होंगे।

वहां आपका घर होगा, या राजनीतिक कामों के लिए जाते होंगे, चुनाव आदि अन्य कामों के लिए जाते होंगे। आप देखते होंगे। मेरा ऐसा अनुभव है। खैर, बिहार यों एक पिछड़ा सूबा है और भी प्रांतों के गांवों का अनुभव है कि ऐसी बातें भी जो आप गांववालों के सामने रख दें, जो बिल्कुल सीधी बातें हैं, साफ हैं, जिनसे उनका प्रत्यक्ष लाभ होगा कोई बहस की बात नहीं है, फिर भी वे नहीं करते, क्योंकि उस काम को मिल कर करने की जरूरत है। व्यक्तिगत रूप से तो कोई बैठा नहीं है। सब अपना पेट भरने के लिए कुछ न कुछ करते हैं, मजदूरी करते हैं, खेती करते हैं, नौकरी करते हैं, दूकानदारी करते हैं, वकालत करते हैं, डाक्टरी करते हैं। हर कोई करता ही है। कोई कम करता है, कोई ज्यादा करता है। लेकिन वह विद्या हम बिल्कुल भूल गये और वह शक्ति हमारे अंदर से निकल गयी कि हम मिल करके, जो सामूहिक काम है, जिन कामों के होने से हर व्यक्ति हर परिवार का लाभ है, उसे करें। स्पष्ट है, फिर भी उसके लिए जो सामूहिक प्रयास चाहिए, वह नहीं हो पाता। व्यक्तिगत काम नहीं, काम सामूहिक है और उसके लिए सामूहिक शक्ति की आवश्यकता है, लाभ सबका है फिर भी नहीं होता।

और जो दुनिया के देश हैं, वहां जो लोकतंत्र का निर्माण हुआ, वह तो ऊपर से नहीं हुआ। लोकतंत्र का हर जगह तो निर्माण नीचे से हुआ है। लोकतंत्र के माने ही हैं कि जनता ने उसे बनाया। अब चूंकि एक प्रकार का विज्ञान और आया, एक प्रकार की यंत्रकला आयी, एक प्रकार की मशीन आयी, उद्योग-धंधे बने, जिनसे यह आपका सारा नक्शा बना, यह जरूरी नहीं है कि ऐसा ही होता, इसके बारे में भी मैं दो शब्द कहूंगा। लेकिन वहां वह शक्ति है। अपने देश में वह शक्ति नहीं है। जब तक वह शक्ति नहीं पैदा होती है, तब तक इस प्रकार की रचना हम नहीं कर सकते हैं? कागज पर ही यह रचना रहेगी। कागज पर बहुत अच्छी रचना है। मैं समझता हूं कागज पर इससे अच्छी रचना नहीं हो सकती। लेकिन वह कागज पर ही है। अब यह कैसे होगा?

गांधी जी ने जो इसका उत्तर दिया वह आपके सामने रखता हूं। गांधी जी ने कहा कि यह काम सेवा से ही हो सकता है। मैंने अपने हाथ की मिसाल दी थी। बात पुरानी हो गयी, फिर भी मैं आपके सामने रखता हूं। मोटर दुर्घटना में मेरे बाजू की दोनों हड्डियां टूट गयीं, प्लास्टर कर दिया डाक्टर ने। तीन महीने प्लास्टर चढ़ा रहने के बाद, जब वह काटा गया तो बाजू खुलने पर एकदम पतला निर्जीव सा दिखायी देता था। तब क्या करना पड़ा? उसकी सेवा करनी पड़ी, मालिश करनी पड़ी, कसरतें उसको सिखायी गयीं, धीरे-धीरे तीन-चार महीने

में उसमें जान आयी और उसने काम करना शुरू किया। भारत के गांवों में इतना जीवन था, उनमें इतनी संस्कृति थी कि रामानुजम् भी गांव में ही रहते थे, और जो हमारे बड़े-बड़े विश्वविद्यालय थे, वह भी जंगलों में और गांवों में थे। उस प्रकार का हमारा जीवन ही था। नगरों में कोई खास जीवन नहीं था। हमारी सारी संस्कृति गांवों में थी। आज वे निर्जीव हो गये। मुझे इसका सबसे बड़ा कारण यही लगता है कि विदेशी राज जब हुआ, तो उसने सारे देश को जकड़ कर बांध दिया। अंग्रेजों ने एक यह काम किया जो किसी आक्रमणकारी ने नहीं किया था, कि उसने हमारे ग्राम-समाज को तोड़ दिया। हर तरीके से तोड़ दिया, अपनी औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था लाकर तोड़ दिया जिसमें कोई सामूहिक काम न करके हर व्यक्ति अलग-अलग मजदूरी करे।

दूसरी बात यह है कि पहले गांव की जो पंचायत थी, वह मालगुजारी वसूल करके राजा को देती थी, चाहे जो राजा हो, गणतंत्र हो, चाहे कोई तंत्र हो। जब अंग्रेज आये तो उन्होंने कहीं रैयतवारी, कहीं जमींदारी कायम की। व्यक्ति से लगान या माल की वसूली जहां जैसी प्रथा थी, उसके हिसाब से शुरू हुई। जानबूझ कर पुरानी व्यवस्था उन्होंने तोड़ी, क्योंकि उन्होंने देखा कि अगर ग्राम-राज रहेगा, तो हमारा राज मजबूत नहीं होगा। इस प्रकार उसे तोड़ कर उन्होंने हमें जकड़ कर बांध दिया। गुलामी, जो प्लास्टर के समान थी, उसमें जकड़ दिया। हमें कोई मौका नहीं दिया। बोलते थे, तो भी वे हमें कैद कर देते थे, १२४-ए धारा में पकड़ कर बंद कर देते थे जैसे गांधी जी को लेख लिखने के अपराध में बंद कर दिया था। तिलक महाराज को मांडले भेज दिया था। जब १९४७ की १५ अगस्त को हमारे सर्जन-जनरल, जो गांधी जी थे, उन्होंने जब यह प्लास्टर काट दिया, तब हम खुल तो गये लेकिन एकदम से भारत के सारे शरीर में रक्त का संचार हो गया हो, जीवन का संचार हो गया हो, ऐसा नहीं हुआ। हो नहीं सकता था, क्योंकि उसे सेवा चाहिए। इसलिए गांधी जी ने कहा कि एक-एक गांव के लिए एक-एक सेवक चाहिए, कांग्रेस भी एक लोक-सेवक-संघ बन जाय। उस समय वे अखण्ड भारत में ७ लाख सेवकों की बात करते थे, बाद में ६ लाख की बात करते थे, जो निष्काम सेवक हो, वह वहां जाय। आज वह सेवा नहीं होती है। मुट्ठी भर लोग हैं, बहुत थोड़े लोग हैं। अब यों तो आपने बनाया होगा ग्राम सेवक। आप स्वयं सोच सकते हैं कि उसकी सेवा में और गांधी जी के लोक-सेवक की सेवा में कितना जमीन-आसमान का फर्क होगा, आपकी सेवा में और किसी एक अधिकारी की सेवा में। वह तो एक नौकर है। अंग्रेजी का एक ही शब्द है सर्विस।

लेकिन अपने यहां तो एक शब्द नौकरी और एक शब्द सेवा है। दोनों के भाव में जमीन-आसमान का अंतर है। तो सरकार के तंत्र के द्वारा जनता में वह जीवन पैदा किया जाय, जैसा गांधी जी चाहते थे। लेकिन वह नहीं हो सकता। बड़ी एक खाई है—जनता और प्रशासन के पुर्जे के बीच में। खाई कुछ पाटी गयी है, आप लोगों ने कुछ किया है लेकिन फिर भी वह बहुत कम है। राजनीति वाले लोग यह कर सकते थे। लेकिन राजनीति वाले लोग क्या करते हैं? राजनीति वाले लोग जनता को और भी निष्क्रिय बनाते हैं। किस प्रकार बनाते हैं? इस प्रकार बनाते हैं कि जाकर कहेंगे कि हमारा समर्थन करो, हमारी पार्टी का समर्थन करो, वोट दो। हर किसी को अधिकार है कहने का। अगर तुम ऐसा करोगे, तो स्कूल बनेगा, अस्पताल बनेगा, सड़क बनेगी, अन्न का संकट दूर होगा, बेकारी की समस्या हल होगी, दूध-दही की नदियां बहेंगी। आप लोगों का, कांग्रेस पक्ष का राज्य है, विरोधी पक्ष के लोग जायंगे तो क्या कहेंगे, यही कि तुम आज भुगत रहे हो, किस लिए भुगत रहे हो कि तुमने गलत लोगों को वोट दिया। अब अगला चुनाव आयेगा तो हमको वोट देना, सही लोगों को वोट देना। हमारी पार्टी को गद्दी पर बिठाना, तब क्या होगा हम तुम्हारी समस्याएं हल करेंगे।

भाई, आज यह कहने की जरूरत है कि तुम करो, आखिर राज्य की शक्ति थोड़ी है, उसके पास लोग थोड़े हैं। देश में केन्द्रीय और प्रादेशिक राज्यों को मिलाकर कुल ५५-५६ लाख तो कर्मचारी हैं लेकिन जनता तो करीब-करीब ४० करोड़ है। कुछ सौ करोड़ या अरब रुपये आपके पास हैं, लेकिन जनता के पास जो शक्ति है, उसका रुपये से हिसाब भी नहीं लगाया जा सकता। यानी एक-एक घंटा भी अगर जनता शरीर या बुद्धि का श्रम देश को दे तो न जाने कितने अरबों का उससे उत्पादन होगा और देश का लाभ होगा। वह अपार शक्ति है जिसको कोई खोल नहीं रहा है। मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि विनोबा जी के हाथ भी वह कुंजी नहीं है। 'सर्वोदय', 'ग्रामदान', 'भूदान' के आंदोलन ने एक धारा पल्टी है, बड़ा काम किया है, एक दूसरे वातावरण का निर्माण किया है, लेकिन फिर भी यह नहीं हुआ कि एक गांव में ग्रामदान हुआ, एक गांव में ग्राम-स्वराज्य की स्थापना हुई तो वह फैल गया, भारत के दस हजार, बीस हजार, पचास हजार, एक लाख या पांच लाख गांवों में। इस तरह से नहीं हुआ। यह भी नहीं बन सका कि दस हजार गांवों में एक नमूना पैदा हो गया हो और वह आप से आप बढ़ रहा हो। वह चीज़ किसी के हाथ लगी नहीं। मैं समझता हूं कि ऐसा वह कोई जादू नहीं है कि एक दिन में हो जाय। वह धीरे-धीरे होगा। लेकिन यह मेरा निश्चित मत है कि

सही माने में इस प्रकार का यदि हम जनता का राज्य, जनता का आर्थिक तंत्र खड़ा करना चाहते हैं, जिसे जनता चलाये, जिसका नक्शा हमने आपके सामने रखा, तो इसके लिए लाखों सेवकों की आवश्यकता है। फिर उस तरफ एक बार जाना है, चाहे उसे क्रान्ति कहिए, जो कहिए, उसमें अपनी सारी शक्ति लगाना है। राज्य बहुत कुछ कर सकता है लेकिन उसकी मर्यादा है। उस मर्यादा के अंदर जो वह कर सकता है, कर रहा है या आगे करेगा।

मैंने बीच में आपसे एक बात कही कि लोग कहते हैं और पंडित जवाहरलाल जी अक्सर कहते हैं कि यह वैज्ञानिक युग है, यांत्रिक विकास हो रहा है, आविष्कार हो रहे हैं इनसे हम बच नहीं सकते। मैंने जो भूकम्प वाली बात कही उसे फिर दोहराऊंगा कि ऐसा नहीं है कि जो विज्ञान कह रहा है, दे रहा है, उसका प्रयोग एक ही प्रकार से होगा। यह जो केन्द्रित व्यवस्था बनी, पहले आर्थिक व्यवस्था बनी और उस पर सामाजिक व्यवस्था बनी, यानी दोनों एक साथ हाथ से हाथ मिला कर चले, यह क्यों हुआ ? विज्ञान ने भाप की शक्ति दी, बिजली की शक्ति दी, अब उस शक्ति का प्रयोग सबसे पहले किसने किया, उन्होंने जिनके पास कुछ पूंजी थी। भारत की तिजारत से पूंजी इकट्ठी की हो, अमरीका की तिजारत से इकट्ठी की हो, या लूट से इकट्ठी की हो और कहीं से भी की हो, कुछ पूंजी उनके पास थी। उन पूंजीपतियों ने उस पूंजी को लगाया और एक प्रकार की मशीन बना कर भाप या बिजली का प्रयोग किया। अब उन्होंने देखा कि इसी दिशा में यदि हम आगे बढ़ते हैं तो ज्यादा से ज्यादा फायदा हमको तब होगा, जब अधिक से अधिक पूंजी लगा कर काम करें क्योंकि जब तक कि मजदूर ऐसे थे कि उनकी शक्ति नहीं थी, संगठन नहीं था, उनका खुल कर शोषण हो सकता था, तो मशीन ने कम किया और मजदूर ने अधिक काम किया तो भी मुनाफे की सीमा काफी ऊंची हुई। लेकिन अब मजदूर में संगठन हो गया, चेतना आ गयी। अब मजदूर अपनी मजदूरी डिक्टेट करता है, हड़ताल करता है, बहुत बड़ी उसकी शक्ति बन गयी है, जैसे कि एक राज्य के भीतर एक राज्य बन गया, उदाहरणार्थ ब्रिटिश ट्रेड यूनियन, अमेरिकन फेडरेशन आफ लेबर, कांग्रेस आफ इण्डस्ट्रियल आर्गनाइजेशन आदि। राज्यतंत्र से थोड़े ही नीचे ये लोग हैं वे पूंजीपतियों का मुकाबला बराबर की हैसियत से कर सकते हैं। ऐसी शक्ति पैदा हो गयी। अब उनके लिए यह दिक्कत आयी और उन्होंने यह समझा कि हम यदि मजदूर कम से कम रखते हैं और पूंजी अधिक से अधिक लगाते हैं तो भी अगर फी रुपया, फी डालर मुनाफे की दर कम आती है, फिर भी कुल मुनाफा बहुत ज्यादा होगा क्योंकि लाख की जगह पर करोड़

की पूंजी लगायी और करोड़ की जगह पर अरब की पूंजी लगायी। तो पूंजीवाद हमें केन्द्रीकरण की तरफ ले गया। इसलिए विज्ञान ने हमें जो साधन दिया, जो विद्या दी उसका उपयोग केन्द्रीकरण के लिए मुनाफाखोर लोगों ने मुनाफे की खोज में किया, उसी तरह से सत्तावादियों ने भी वही किया।

दुनिया में दो बड़ी ताकतें हैं—पूंजी या धन की ताकत और सत्ता की ताकत। सत्तावादी चाहे पूंजीवादी हों, समाजवादी हों या साम्यवादी, सबको शक्ति चाहिए। शक्ति अधिक से अधिक मजबूत हो सकती है जब वह विकेन्द्रित हो जाय। ऐसी दशा में जिन ऊपर के लोगों के पास सत्ता है उनकी शक्ति कमजोर हो जायगी। इसलिए उनको यही चाहिए था कि केन्द्रित उद्योग हों, बड़े-बड़े कारखाने हों, सुरक्षा या युद्ध के लिए हथियार भी बड़े-बड़े बनें क्योंकि जिसके पास ऐसे हथियार होंगे वह देश बहुत शक्तिशाली होगा, बहुत सत्तावाला होगा। तो सत्ता और पूंजी दोनों टेक्नोलाजी को उस ओर ले गयीं।

अब देखिए भारत को, यह गांधी जी का देश है। यहां कुछ ग्रामोद्योग का नाम लिया जाता है। पिछली योजना में दो अरब रुपया ग्राम उद्योग के लिए रखा गया था। नियोजन आयोग को चाहिए कि एक ऐसा संस्थान बनाये जहां अनुसंधान हो, वैज्ञानिक रहें, इंजीनियर रहें और समाजशास्त्री रहें, जो यह सोचें कि आज अणु और बिजली की शक्ति का किस प्रकार विकेन्द्रित ढंग से प्रयोग किया जाय ताकि घर-घर में वह चल सके, गांव-गांव में मशीन चल सके, पंचायत समिति के क्षेत्र में, ब्लाक के क्षेत्र में और जिले के क्षेत्र में कारखाने चल सकें। जहां थोड़ा बहुत अध्ययन हुआ है उससे यह पता चला है कि लोहे का जैसा उद्योग भी, जिसको माना जाता है कि यह स्वभावतः एक केन्द्रित उद्योग है, उसमें भी, विकेन्द्रीकरण हो सकता है। विकेन्द्रीकरण के बारे में आप अमेरिका में सुनेंगे और रूस में भी उसकी चर्चा है। लेकिन उसमें धोखा हो सकता है। वहां बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन है उस उत्पादन के सिलसिले में, उत्पादन में उन्होंने यह उपाय किया है कि जैसे एक वस्तु है, अब उसका एक हिस्सा यहां बनेगा, एक वहां बनेगा। तो उन्होंने इस तरह का भी विकेन्द्रीकरण किया है, लेकिन यह कोई विकेन्द्रीकरण नहीं है। यह तो उसी का एक रूप है, ढांचा है, जिससे कि उसमें कार्यकुशलता आये। अब न्यूयार्क में क्या हो गया। कोई अपने घर से आफिस आना चाहता है। क्या मुसीबत है। लोग कहते हैं जिनके पास अपनी गाड़ियां या कारें हैं उन्होंने यह सोचा है कि भाई आफिस जाना हो तो कार पर अधिक समय लगता है। गाड़ी खड़ी करने की जगह आफिस से

चार फर्लांग पर है। उस जगह तक गाड़ी को पहुंचाने में दिक्कत है। किसी तरह गाड़ी खड़ी करके आफिस तक पैदल जाओ, ट्यूब-रेल के द्वारा या और किसी तरह जाओ। कई जगह तो यूरोप के कई देशों में भी ऐसा दीखता है कि यहां से वहां जाना है, फासला थोड़ा है, यदि कार से जायंगे तो अधिक समय लगेगा, पैदल जायेंगे तो कम समय लगेगा। जब इस तरह की पेचीदगियां पैदा हुई तो उन्होंने उस तरह का विकेन्द्रीकरण किया, जो समाज रचना है, जो उनका आर्थिक और राजनैतिक आदर्श है उसमें कोई परिवर्तन उन्होंने नहीं किया। जो उनका केन्द्रित ढंग चल रहा है वह टूटे नहीं और काम ठीक से चल सके, इसके लिए कुछ विकेन्द्रित किया है। नगर के समीप की छोटी-छोटी बस्तियों के लिए छोटे-छोटे उद्योग भी भेज रहे हैं। लेकिन ऐसे देहातों की तरफ या गांवों की तरफ जो कार-खाने कायम किये जा रहे हैं वे सब उसी केन्द्रित ढांचे के हिस्से हैं।

बात समझने की यह है कि अगर कोई कहता है कि विज्ञान को तिलांजलि देनी पड़ेगी और यंत्र-कला का जो विकास हो रहा है उसको छोड़ना पड़ेगा, अपने आप काम सम्पन्न होने का युग आया है। ऐसी स्थिति में कहां हम जायंगे ? शारी-रिक शक्ति के बाद भाप आयी, भाप के बाद बिजली आयी, बिजली के बाद अणु आया। वह तो एक विकास हुआ और दूसरा विकास यह हो रहा है कि मनुष्य की जो मांसपेशियां हैं इनका काम मशीन करने लगी तो आदमी के दिमाग का काम भी मशीन करे। एक बहुत बड़ा कारखाना है और उसमें १० आदमी काम करते हैं। बटन दबाने मात्र का उनका काम है। तो आज की जो यह यंत्र-कला है उसका आदर्श क्या है ?

आदर्श यही है कि अधिक से अधिक लोग मशीनवत काम करें, आटोमेटिक काम करें। अधिक से अधिक लोग का मतलब यह कि सौ में से ७० फी सदी, ८० फी सदी, ९० फी सदी तक मशीन की तरह काम करें और कम से कम लोग दिमाग का काम करें। ऐसी दशा में जो साधारण मनुष्य है वह मनुष्य नहीं रह गया। उसकी मनुष्यता खत्म हो गयी। वह मशीन बन गया। अब वह क्या करते हैं, लुभाते हैं लोगों को, कहते हैं, देखो आज तो तुम हफ्ते में पांच दिन काम करते हो, अच्छी बात है, अब चार दिन ही काम करो, तीन ही दिन काम करो। इसी तरह प्रतिदिन आज ८ घंटे काम होता है, तो वह कल ७ घंटा होगा, पांच घंटा होगा फिर तीन ही घंटा और शायद दो ही घंटा काम करके वह पूरा हो जायगा। दो घंटा काम करो, उसके बाद ऐश करो, आराम करो और मनोरंजन करो। अब यह देखिए कितने धोखे की बात है। जो काम करना है उसके लिए उसका सारा उत्साह,

लगन और सृजनात्मक शक्ति चली गयी। उसकी ये सारी शक्तियां दूर कर दीं। उसे मशीन का हिस्सा बना दिया और जब वह अपनी सृजन करने वाली शक्तियों के विकास की तरफ मुड़ता है तो वहां क्या है, वहां भी केन्द्रीकरण है। जितने मनोरंजन के साधन हैं, वे सब अति संगठित हैं। सिनेमाघर में बैठ कर वह अच्छे से अच्छा खेल देखता है लेकिन वह सोचता है, खेलने वाला दूसरा है, हमको क्या? वहां भी वही, उसी प्रकार का समाज, सब पका कर थाली में जैसे परोस दे रहे हैं। मनोरंजन भी परोसा जायगा, काम भी परोसा जायगा । आदमी हर जगह यंत्र बनेगा और आदमी को नाक पकड़ कर घुमाने वाले मुट्ठी भर लोग होंगे। इस तरफ उनका समाज जा रहा है। इसमें कोई इस बात का प्रश्न उठता ही नहीं है कि स्वामित्व समाज का है या व्यक्ति का है, पूंजीवाद है कि साम्यवाद है या समाजवाद है। यह तो औद्योगीकरण सारी बात है जो सब में व्याप्त है। इस दृष्टि से अमेरिकन सभ्यता और रूस की सभ्यता दोनों में गहरा साम्य है, यद्यपि एक पूंजीवादी है, दूसरा साम्यवादी है। गहरा साम्य इसलिए है क्योंकि दोनों एक ही प्रकार की औद्योगिक सभ्यताएं हैं।

तो मित्रो, जब पहले-पहल कारखानों या उद्योगों का जमाव हो रहा था, उस जमाने में भी रस्किन, विलियम मारिस, टाल्स्टाय, थारो जैसे लोग थे जिन्होंने चेतावनी दी थी कि समाज बिगड़ने वाला है। लेकिन हुआ क्या? जीवन का एक ही मूल्य स्थापित हो गया—आर्थिक मूल्य या भौतिक मूल्य और हर चीज़ को इसी मापदंड से लोग मापने लगे। सिर्फ उत्पादन को छोड़ कर हर चीज़ को वे व्यर्थ की लागत मानते हैं। चाहे वह मनोरंजन हो, चाहे आध्यात्मिक चिन्तन हो, वह लागत का ही हिस्सा है। आज की परिभाषा में वह भी एक लागत हो गयी। उसके लिए यह हिसाब करना पड़ेगा कि इतना तो निरर्थक होगा, आदमी बैठ करके ध्यान करता रहा। इसका क्या मतलब है? उत्पादन का जो सारा काम है उसके कारण जीवन का ऐसा दृष्टिकोण बन गया, जीवन का एक ऐसा दर्शन बन गया, जिसने मनुष्य के सामने ही लक्ष्य पेश कर दिया कि हम ज्यादा से ज्यादा अपने जीवन-मान या जीवन-स्तर को उठायेंगे।

आज अमरीका में, आपने सुना होगा कि जो समस्या है वह यह है कि मर्द के पास तो गाड़ी है, तो औरत के पास भी गाड़ी हो। यह अमरीका की सोसायटी या समाज की आज समस्या है। राष्ट्र की नहीं, समाज की यह समस्या है कि औरत के पास भी गाड़ी हो। चार आदमियों के पीछे यानी औसतन हर परिवार के पास एक गाड़ी है ऐसा आप कह सकते हैं। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, इसीलिए औसतन

मैंने कहा। अब वह चाहते हैं कि औसतन दो आदमियों के पीछे एक गाड़ी हो। यदि मियां गये हैं गाड़ी पर तो बीबी भी गाड़ी पर ही बाजार करने जाय, जो भी करने जाय। जब इसके और आगे जायंगे तो एक गाड़ी बच्चों के लिए भी चाहिए। यह उनके जीवन का सार है। यह जो औद्योगीकरण है उसी के अंदर से यह सारा निकला है। तो यह हमें सोचना है कि हम क्या करें?

हमसे घनश्यामदास जी बिड़ला कहते थे कि भारत की जनता आपकी बात सुनने वाली नहीं है। हमने कहा, क्यों? उन्होंने कहा, गांव में लोगों को साइकिल चाहिए, रेडियो चाहिए, यह चाहिए, वह चाहिए। अब लोगों की जो भूख है उसको मिटाना है। आखिर हमारी जो आवश्यकताएं हैं उनकी तो पूर्ति होनी ही चाहिए। लेकिन उसके साथ-साथ हम यह भूल जाते हैं कि आवश्यकताओं की एक मर्यादा है। उसके बाद दूसरी आवश्यकता भी हमारी है। अगर सिर्फ हम भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ाते जायंगे और उनकी तृप्ति के लिए उद्योग आदि का विस्तार करते जायेंगे तो हमारा जीवन बिल्कुल एकांगी हो जायगा, खंडित हो जायगा, टूट जायगा, असंतुलित हो कर गिर जायगा। इनकी जो संस्कृति बनी है, वह गिरने वाली है। कोशिश यह होनी चाहिए कि उसमें संतुलन हो।

यह सब बातें मैं आपसे इसलिए कर रहा हूं कि यह जो विकेन्द्रीकरण का प्रश्न है, वह समाज के जीवन-दर्शन का प्रश्न है। उसके पीछे क्या हमारा आदर्श है, उसे छोड़ कर हम विकेन्द्रीकरण को केवल यांत्रिक दृष्टि से देखते हैं। यह भी हम देखते हैं कि एक उद्योग की जगह पर दस उद्योग या पचास उद्योग बनते हैं, कितने लोगों को उनमें काम मिलता है, धंधा मिलता है वे गौण बातें हैं, वह असली विकेन्द्रीकरण नहीं है। असली विकेन्द्रीकरण तो मनुष्य के जीवन की जो समस्याएं हैं, उनको हल करता है या नहीं, उन्नत जीवन देता है या नहीं।

मानवीय मूल्यों की उससे स्थापना और रक्षा होती या नहीं, यह सब देखना है। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और स्वातंत्र्य के क्षेत्र में अपने-अपने दैनंदिन जीवन में हमको यही न गर्व है कि हम मनुष्य हैं हम अपनी इच्छानुसार फैसला कर सकते हैं लेकिन वे हमको यंत्र ही बना देना चाहते हैं।

कई क्षेत्रों से लेकर मैंने आपके सामने इस समस्या को रखा। बड़ी खुशी की बात है कि उत्तर प्रदेश के शासन करने वाले आप सब लोग और विधान देने वाले लोग यहां बैठे हैं। उन्हें कुछ गंभीरता से इन प्रश्नों पर विचार करना चाहिए। एक दो भाषण, एक दो ग्रंथों से तो यह काम चलने वाला नहीं है और मैं समझता हूं कि

अपने पास बहुत समय नहीं है, दस बारह वर्ष हमने खोये हैं, थोड़ा ही इस तरफ हमने ध्यान दिया है।

सुरक्षा की बात कही गयी थी। सच पूछिए तो, आज दुनिया का कोई देश नहीं है जो अपनी सुरक्षा कर सकता हो, न अमरीका कर सकता है, न रूस कर सकता है, हथियारों से सुरक्षा हो नहीं सकती। यह एक मानी हुई बात है लेकिन आदत पड़ी हुई है, एक लकीर पिटी हुई है अब उस पर चलना ही पड़ता है, सारी दुनिया चल रही है। अच्छी बात ! हथियारों से सुरक्षा हो सकती है इसे भी अगर हम मंजूर कर लें तो आज इस आणुविक युग में डिफैन्स शास्त्र वाले एक स्वर से कह रहे हैं कि अगर हम अपनी बस्तियों और उद्योगों को भी विकेन्द्रित नहीं करेंगे तो बड़ा खतरा है। एक बम न्यूयार्क में गिरता है और दूसरा शिकागो में गिर जाता है तो अमरीका का जीवन खत्म हो जाता है। इसलिए सुरक्षा की दृष्टि से भी आप सोचे तो विकेन्द्रीकरण अत्यन्त महत्व रखता है आज आणुविक युग में, तीर धनुही के युग की बात में नहीं कहता, उसमें यह आवश्यक हो जाता है लेकिन उससे गहरी बात यह है कि सुरक्षा के लिए कौन सा सही रास्ता हो सकता है।

मैंने आप सब लोगों का बहुत समय लिया और जो मैंने बातें कहीं वे इससे अच्छे ढंग से कहीं जा सकती थीं। वह मैं नहीं कह पाया। लेकिन बातें बहुत सी आपके सामने रख दी हैं, जिससे कि आप इन सब पर विचार करें। मैं कह रहा था कि आपके सामने समय थोड़ा है, तीसरी योजना यदि पूरी हो जाती है तो मेरा खयाल है कि हमको अपना रास्ता मोड़ना शायद कठिन हो जायगा। अभी तक तो हम अपना रास्ता मोड़ सकते हैं, अगर हम सोच-समझ कर कुछ कदम उठायें। जीवन के हर क्षेत्र में हमें यह करना चाहिए।

दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.

